।। कोबातीर्थमंडन श्री महावीरस्वामिने नमः ।।

।। अनंतलब्धिनिधान श्री गौतमस्वामिने नमः ।। ।। गणधर भगवंत श्री सुधर्मास्वामिने नमः ।।

।। योगनिष्ठ आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः ।। ।। चारित्रचूडामणि आचार्य श्रीमद् कैलाससागरसूरीश्वरेभ्यो नमः ।।

आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर

पुनितप्रेरणा व आशीर्वाद

राष्ट्रसंत श्रुतोद्धारक आचार्यदेव श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी म. सा.

जैन मुद्रित ग्रंथ स्केनिंग प्रकल्प

ग्रंथांक : १

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र

आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा, गांधीनगर-श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र
आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा, गांधीनगर-३८२००७ (गुजरात)
(079) 23276252, 23276204
फेक्स : 23276249
Websiet : www.kobatirth.org
Email : Kendra@kobatirth.org

शहर शाखा

आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
शहर शाखा
आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
त्रण बंगला, टोलकनगर
परिवार डाइनिंग हॉल की गली में
पालडी, अहमदाबाद – ३८०००७
(079) 26582355

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनुसंधान : स्वरूप एवं प्रविधि

डा. राम गोपाल शर्मा 'दिनेश'

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनुसंधान : स्वरूप एवं प्रविधि

लेखक
डॉ. रामगोपाल शर्मा "दिनेश"
एम.ए. (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच. डी., डी. लिट्.
पूर्व प्राचार्य तथा अधिष्ठाता, हिन्दी विभाग एवं संकाय
मो. ला. सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रथम संस्करण : 1994

ISBN 81-7137-135-3

मूल्य : 41.00 रुपये मात्र

© सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर-302 004

लैज़र कम्पोजिंग :
जयपुर कम्प्यूटर्स
A-691, मालवीय नगर,
जयपुर

मुद्रक :
[redacted]
जयपुर

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा प्रकाशित।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकाशकीय भूमिका

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपनी स्थापना के 24 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई, 1993 को 25वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि में विश्व-साहित्य के विभिन्न विषयों के उत्कृष्ट ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रन्थों को हिन्दी में प्रकाशित कर अकादमी ने पाठकों की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय-स्तर पर हिन्दी में शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी में ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के अनुकूल हों। विश्वविद्यालय-स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक-ग्रन्थ, जो उपयोगी होते हुए भी प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड़ में अपना समुचित स्थान नहीं पा सकते हों और ऐसे ग्रन्थ भी, जो अंग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नहीं पाते हों; अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में उन दुर्लभ मानक-ग्रन्थों को प्रकाशित करती रही है और करेगी; जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नही; गौरवान्वित भी हो सकें। हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 375 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को प्रकाशित किया है जिनमें से एकाधिक केन्द्र, राज्यों के बोर्डों एवं अन्य संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा अनुशंसित।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को अपने स्थापना काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अतः अकादमी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में उक्त सरकारों की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

"अनुसंधान : स्वरूप एवं प्रविधि" नामक पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित करते हुए हम हर्ष का अनुभव कर रहे है। प्रस्तुत पुस्तक में अनुसंधान के स्वरूप एवं प्रविधि पर प्रकाश डाला गया है। लेखक द्वारा इस बात की पूर्ण चेष्टा की गई है कि मूल विषय अनावश्यक उद्धरणों से बोझिल न होने पाये तथा शोधकर्मी इससे पूर्ण लाभान्वित हो सकें।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पुस्तक को कुल मिलाकर 18 अध्यायों में लिखा गया है। पहले चार अध्यायों में अनुसंधान की परिभाषा, उद्देश्य, उपयोगिता, प्रकार एवं प्रविधियाँ आदि पर विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। इसके बाद विभिन्न अध्यायों में क्रमानुसार दर्शनशास्त्र, ललितकलाओं में अनुसंधान, भाषिकी अनुसंधान, साहित्यिक अनुसंधान एवं समालोचना, पाण्डुलिपि-सम्पादन अनुसंधान और मानव-मूल्य, शोध-प्रबंध-लेखन आदि पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। अतः पुस्तक समस्त अध्येताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

अकादमी लेखक डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' के प्रति आभार व्यक्त करती है, जिन्होंने इस पुस्तक को लिखकर, विषय में एक अभाव की पूर्ति की है।

ललित किशोर चतुर्वेदी
उच्च शिक्षामंत्री, राजस्थान सरकार एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

डॉ. वेद प्रकाश
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भूमिका

मानविकी विषयों में विभिन्न भाषाओं, उनके साहित्य, इतिहास, दर्शनशास्त्र तथा ललितकलाओं की गणना की जाती है। इन विषयों में मानव की अनुभूति, चेतना और कल्पना का अद्‌भुत सम्मिश्रण रहता है, अतः इनका अध्ययन अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व-चिन्तन और गंभीर विचार-विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। विभिन्न विश्वविद्यालयों में इन विषयों के अध्ययन की सुदीर्घ परम्परा मिलती है। अनेक शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं तथा अनेक विषय पंजीकृत भी हैं; किन्तु, बहुत कम शोध-प्रबंध अनुसन्धान की प्रविधि के अनुसार लिखे गये हैं। जो शोध-प्रबंध प्रकाशित हुए हैं, उनमें समालोचनात्मक या वर्णनात्मक प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। फलतः प्रमाण-पुष्ट निष्कर्षों का प्रायः अभाव रहता है।

हिन्दी में अनुसंधान-प्रविधि के विवेचन की ओर बहुत कम विद्वानों का ध्यान गया है। जो ग्रंथ लिखे भी गये हैं, वे मानविकी विषयों की समग्र शोध-दृष्टि प्रस्तुत नहीं करते। उनमें केवल हिन्दी-साहित्य को लक्ष्य बनाकर कुछ तथ्यों पर विचार किया गया है और भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में हुए अनुसन्धान या पंजीकृत विषयों की सूची दे दी गई है। शोधकर्मियों को सदा एक ऐसे ग्रंथ का अभाव खटकता रहा है, जो संक्षिप्त तथा सुलझे हुए ढंग से मानविकी विषयों की अनुसन्धान-प्रविधि पर प्रकाश डाल सके। प्रस्तुत पुस्तक इसी अभाव की पूर्ति की दिशा में एक प्रयास है। इसमें अनुसन्धान के स्वरूप और प्रविधि पर गंभीरता से विचार किया गया है।

इस पुस्तक में इस बात की पूर्ण चेष्टा की गई है कि मूल विषय अनावश्यक उद्धरणों से बोझिल न होने पाये। शोधकर्मी शोध-प्रविधि का सहज रूप में शुद्ध परिज्ञान कर सकें— केवल यही मेरा मुख्य उद्देश्य रहा है। विभिन्न पाश्चात्य या प्राच्य विद्वानों ने किस-किस संदर्भ में क्या-क्या मत व्यक्त किये हैं, उनका जंगल प्रस्तुत करके और उनके मत-मतान्तर-गत सत्यासत्य के अन्वेषण में प्रवृत्त होकर शोधार्थियों के समक्ष मैं अधिक विद्वान तो सिद्ध हो सकता था तथा प्रकाशक से पृष्ठ-वृद्धि के कारण धन भी ले सकता था,

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

किन्तु पुस्तक लिखने के मूल लक्ष्य से बहुत दूर चला जाता, जो नितान्त अनुचित कार्य होता। अतः प्रत्येक पक्ष को सारगर्भित रूप में ही प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

आशा है मूल विषय को केन्द्र में रखकर की गई सीधी-सीधी इस संक्षिप्त चर्चा से मानविकी विषयों के शोध-विद्यार्थी लाभान्वित होंगे और अपने अनुसन्धान-कार्य को अधिक संयत, तर्क-संगत, गंभीर, निष्कर्षोन्मुखी तथा समाज-कल्याण के लिए उपयुक्त बना सकेंगे।

अन्त में उन विद्वानों के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके विद्वत्तापूर्ण विचारों से इस ग्रंथ की रचना में ज्ञाताज्ञात रूप में मुझे सहायता मिली है।

उदयपुर (राज.)

—डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ संख्या
1.	अनुसन्धान की परिभाषा एवं उद्देश्य	1
2.	अनुसन्धान की उपयोगिता	6
3.	अनुसन्धान के प्रकार	9
4.	अनुसन्धान की प्रविधियाँ	13
5.	मानविकी विषय और अनुसन्धान	21
6.	मानविकी अनुसन्धान की वैज्ञानिक पद्धति	26
7.	इतिहास की अनुसन्धान-प्रविधि	30
8.	दर्शनशास्त्र की अनुसंधान-प्रविधि	37
9.	ललितकलाओं में अनुसन्धान	41
10.	भाषिकी अनुसन्धान-प्रविधि	46
11.	साहित्यिक अनुसन्धान एवं समालोचना	53
12.	साहित्यिक अनुसंधान एवं पाठालोचन	61
13.	पाण्डुलिपि-सम्पादन	64
14.	तुलनात्मक अनुसन्धान	75
15.	शब्दकोश-निर्माण की शोध-प्रविधि	79
16.	अनुसन्धान और मानव-मूल्य	83
17.	शोध-प्रबंध-लेखन	86
18.	हिन्दी अनुसंधान : विकास, उपलब्धियाँ और सुझाव	90

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

1

अनुसंधान की परिभाषा एवं उद्देश्य

सृष्टि में जो कुछ है, उसे जानने के लिए अनेक मार्ग मनुष्य ने निकाले हैं। कोई व्यक्ति समस्त सृष्टि-तत्त्व को बुद्धि से समझना चाहता है, कोई उसे चिन्तन से पाना चाहता है और कोई उसके लिए वैज्ञानिक विश्लेषण तथा प्रयोग की पद्धति अपनाता है। यह कार्य अनन्त काल से चल रहा है, किन्तु सृष्टि के सम्पूर्ण रहस्यों का पता आज तक नहीं चल सका। दर्शन के सभी चिन्तन जिस दिशा में अग्रसर हैं, विज्ञान के चमत्कार भी उसी दिशा में चलते रहते हैं। जहाँ बड़े-बड़े दार्शनिकों ने अपने ज्ञान-चक्षुओं से सृष्टि के अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन करने में सफलता पाई है, वहीं विज्ञान ने भी आधुनिक युग में अनेक चमत्कार-पूर्ण आविष्कार कर डाले हैं। इतना मानव-प्रयास भी अभी नगण्य ही कहा जाएगा, क्योंकि अभी भी बहुत कुछ जानने तथा प्रमाणित करने के लिए शेष है। जहाँ विज्ञान अन्तरिक्ष में नगर बसाने की संभावना प्रस्तुत करता है, वहीं वह यह भी स्वीकार करता है कि भूचाल आने, ज्वालामुखी फटने, भयंकर समुद्री तूफान चलने आदि जैसे भीषण दैवी प्रकोपों को वह नहीं रोक सकता, किन्तु यह आज का सत्य है। हो सकता है कि कल नये आविष्कार हों और इन पर भी नियंत्रण पाना संभव हो जाये। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ता है कि अनुसंधान की सीमा अनन्त काल तक फैली हुई है तथा मानव के ज्ञान को चुनौती-पूर्ण बनाती है।

परिभाषा

"अनुसंधान" की पहचान क्या है ? कैसे किसी कार्य को अनुसंधान का परिणाम माना जाये ? इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए यह आवश्यक है कि अनुसंधान के शब्दार्थ एवं भावार्थ को व्यवस्थित रूप से समझा जाए तथा उसके पर्यायवाची शब्दों की भी व्याख्या की जाए।

"अनुसंधान" शब्द के मूल में संस्कृत की "धा" धातु विद्यमान है। "धा" धातु का अर्थ धारण करना, रखना आदि होता है। "अनु" उपसर्ग है, जिसका अर्थ है—पीछे

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लगना, अनुसरण करना, पुनः करना आदि। "धा" धातु से बने "संधान" का अर्थ खोजना, निश्चित करना, लक्ष्य-केन्द्रित होना आदि होता है। अतः अनु + संधान से बने "अनुसंधान" शब्द का अर्थ किसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर उसके पीछे लग जाना अर्थात् एकाग्र भाव से खोज करते हुए किसी लक्ष्य को प्राप्त करना होता है। अंग्रेजी में अनुसंधान का पर्याय 'रिसर्च' शब्द माना जाता है। इस शब्द की वेब्सटर की "थर्ड न्यू इण्टरनेशनल डिक्शनरी" में इस प्रकार व्याख्या की गई है—

"Careful or diligent search : a close searching (as after hidden treasure), studious inquiry or examination; esp. critical and exhaustive investigation or experimentation having for its aim the discovery of new facts and their correct interpretation, the revision of accepted conclusions, theories and laws, in the light of newly discovered facts or the practical applications of such new or revised conclusions theories.

रिसर्च की यह परिभाषा बहुत व्यापक और विस्तृत है। वस्तुतः जिस अर्थ में आजकल "अनुसंधान" शब्द का प्रयोग होता है, उसको पूर्णतः रिसर्च की उपर्युक्त परिभाषा में देखा जा सकता है। अतः शब्दार्थ की दृष्टि से "अनुसंधान" उतना व्यापक एवं विस्तृत अर्थ नहीं रखता, जितने व्यापक एवं विस्तृत अर्थ में, उसका ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आजकल प्रयोग होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अनुसंधान एक ऐसा कार्य है, जिसे कठोर परिश्रम, विवेक, एकाग्रता, एकनिष्ठता, गंभीर अभिरुचि आदि के आधार पर सम्पन्न किया जाता है। इस कार्य के फलस्वरूप महत्त्वपूर्ण नवीन ज्ञान या ज्ञात तथ्यों का नवीन व्याख्यान मानव जाति को प्राप्त होता है।

हिन्दी में अनुसंधान के कई पर्यायवाची शब्द हैं जिनमें कुछ प्रमुख शब्द हैं— **शोध, खोज, अन्वेषण, गवेषणा** एवं **अनुशीलन**। ये सभी शब्द अनुसंधान के लिए प्रयुक्त होते हैं, किन्तु शब्दार्थ की दृष्टि से प्रत्येक शब्द की एक सीमा है। **'शोध'** शब्द में ज्ञान की शुद्धि का भाव रहता है। शोधकर्त्ता विस्मृत ज्ञान को पुनः प्रकाश में लाकर उसे शुद्ध रूप से प्रस्तुत करता है। अद्यावधि प्राप्त ज्ञान से उस विस्मृत ज्ञान का सम्बन्ध जोड़कर वह ज्ञान का विस्तार करता है। ज्ञान की क्रमबद्धता और शुद्धि तथा उसके सत्य का जीवनोपयोगी पक्ष शोधकर्त्ता की दृष्टि में रहता है। अतः **'शोध'** शब्द में अनुसंधान के सभी पक्ष आ जाते हैं। सम्यक् रूप से किसी भी परिकल्पना के हल तक पहुँचने की प्रक्रिया शोध अर्थ को सूचित करती है। अतः शोध और अनुसंधान सभी दृष्टियों से एक-दूसरे के अधिक निकट हैं। जो तथ्य या सत्य ज्ञात है, उसको भी युग के अनुरूप परखना और शुद्ध करना पड़ता है। यह कार्य भी शोध या अनुसंधान की सीमा में आता है। अतीत का प्रत्येक ज्ञात तथ्य किसी युग के मानव-जीवन के लिए सर्वथा ग्राह्य ही हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः उसकी भी पुनर्व्याख्या करनी पड़ती है, जो शोध के क्षेत्र में आती है। उदाहरण के लिए,

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बादरायण के ब्रह्म-सूत्रों की शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य आदि दार्शनिकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से युगानुरूप व्याख्या की, जो उनकी मौलिक शोध-दृष्टि की परिचायिका सिद्ध हुई। इसी प्रकार कात्यायन के वार्तिकों की महर्षि पतंजलि द्वारा की गई व्याख्याएँ मौलिक शोध का परिचय देती हैं। ये सब ऐसे उदाहरण हैं, जो अनुसंधान के क्षेत्र में भी आते हैं, अतः शोध और अनुसंधान शब्दों का प्रयोग इस ग्रन्थ में सर्वत्र समान अर्थ में किया गया है। विश्वविद्यालयों में भी, जहाँ अनुसंधान कार्य होता है, शोध और अनुसंधान शब्दों को समान अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है तथा अंग्रेजी के **'रिसर्च'** शब्द का ये दोनों शब्द स्थान लेते हैं।

तीसरा शब्द **"खोज"** भी अनुसंधान के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु इस शब्द की अर्थ-व्यापकता सीमित है। किसी मौलिक एवं सर्वथा नूतन ज्ञान का निर्माण "खोज" का अन्तिम लक्ष्य नहीं है, केवल अज्ञात को ज्ञात बना देना मात्र "खोज" की कार्य-सीमा है। चौथा **"अन्वेषण"** शब्द भी अनुसंधान के अर्थ को सीमित अर्थ में व्यक्त करता है। यह शब्द भी "अनु" उपसर्ग लगाकर "ऐषण" (एषणा) शब्द से बना है जिसका सामान्य अर्थ होता है—पीछे लगने की इच्छा, पता लगाने या खोज करने का कार्य, जो अनुसंधान की ओर ही संकेत करता है। जो ज्ञात नहीं है उसे जानने की इच्छा इस शब्द के भाव में छिपी है। जो मिला नहीं है, उसे खोजना है और यह कार्य "शोध" और "अनुसंधान" शब्दों का ही विषय है, जो "अन्वेषण" से अधिक व्यापक अर्थ देते हैं। सामान्यतः **"गवेषणा"** शब्द भी इसी अन्वेषण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। एक अन्य शब्द **"अनुशीलन"** भी "शोध" के लिए प्रयुक्त होता है। इस शब्द का अर्थ सतत् अभ्यास, मनन, चिन्तन, विचरणा आदि तक सीमित है।

उपरोक्त विवेचन के पश्चात् अनुसंधान (शोध) की परिभाषा इस प्रकार निर्धारित की जा सकती है कि **जब किसी अज्ञात तथ्य की कठोर परिश्रमपूर्वक विवेक और एकनिष्ठ भाव से खोज की जाती है तथा उस खोज के आधार पर प्राप्त तथ्य को पूर्णतः शुद्ध करके इतना प्रामाणिक बनाया जाता है कि वह मौलिक स्वरूप ग्रहण कर ले, तब उस कार्य को अनुसंधान कहा जाता है।** यदि कोई शोधकर्ता किसी ज्ञात तथ्य की एकाग्र भाव से किसी शुद्ध लक्ष्य की सिद्धि के लिए ऐसी नवीन व्याख्या प्रस्तुत करता है, जो प्रमाण-पुष्ट होकर तथा तर्क की कसौटी पर खरी उतर कर पूर्णतः विश्वसनीय बन जाती है, तब वह व्याख्या भी अनुसंधान या शोध की परिभाषा में आती है। इस प्रकार अनुसंधान की परिभाषा में जिज्ञासा-पूर्ण परिश्रम, तटस्थ दृष्टि एवं विवेकपूर्ण परीक्षण का मौलिक ज्ञान के लिए समावेश होता है।

अनुसंधान का उद्देश्य

अनुसंधान का सत्यान्वेषी और सत्य-संशोधन कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके उद्देश्य को समझना कठिन नहीं रह जाता। मानव-जीवन का सम्यक् निर्वाह उसके वैयक्तिक

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एवं सार्वजनीन ज्ञान पर निर्भर है। अज्ञान अन्धकार के समान है। जहाँ अंधकार होता है, वहाँ सब कुछ होने पर भी कुछ भी ज्ञात नहीं होता। बंद कमरे का द्वार खोलने पर उसमें रखे पदार्थ तभी जाने जा सकते हैं, जब उसका अंधकार दूर हो। यह अन्धकार नेत्रों से ही दूर होता हो, ऐसी बात नहीं है। हमारी अन्य इन्द्रियाँ भी उसे मिटाती हैं। आवश्यकता इसी बात की है कि ये इन्द्रियाँ सही ढंग से वस्तुओं को प्रमाणित करने की क्षमता रखती हों। उदाहरणार्थ, हम अन्धकार में भी स्पर्श, श्रवण, गन्ध आदि से वस्तुओं का पता लगा सकते हैं, किन्तु पूर्ण ज्ञान के लिए हमारे ये ज्ञान-चक्षु भी पर्याप्त नहीं हैं। **हमें पूर्ण ज्ञान के लिए अन्धकार को मिटाना होता है। अतः शोध का प्रथम उद्देश्य इस अन्धकार को मिटाना ही है, जो वस्तुओं के मूल रूप को आवरित रखता है।**

वस्तुओं के मूल रूप को समझने के लिए हमें उन पर छाई धूल-मिट्टी को साफ करना होता है। मिट्टी में दबा सोना भी तब तक सही ढंग से नहीं परखा जा सकता, जब तक उसको शुद्ध न कर लिया जाए। जब वह अग्नि में तपकर परिशोधित हो जाता है, तभी वह स्वर्ण के रूप में अपनी पहचान करा पाता है और तभी वह ग्राह्य बनता है। जो वस्तु शुद्ध होकर ग्राह्य बन जाती है, वही मानव-जीवन में उपयोगी सिद्ध होती है। इस प्रक्रिया में विष भी रोग-निवारण में सहायक औषध बन जाता है। अतः शोध का प्रमुख उद्देश्य है- वस्तुओं और उनसे सम्बन्धित ज्ञान को उपयोगी बनाना, ताकि वे मानव जीवन में व्यवहार योग्य बन सकें। उपनिषद् में एक स्थान पर उल्लेख आता है कि—

"हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्य अपिहितं मुखम्।"

निश्चय ही सत्य अज्ञान के आवरण में छिपा रहता है। "हिरण्यमयपात्र" माया का प्रतीक है। दार्शनिकों ने माया को बहुत महत्त्व दिया है। यह संसार माया या अज्ञानजन्य है। लेकिन जो जन्य है, वह है अवश्य। उसे "है" अर्थात् "सत्य" को अज्ञान से मुक्त करना ही शोध का उद्देश्य है। ब्रह्म कहाँ नहीं है ? मैं, वह, तुम सब में तो वही है, पर उसे पहचाना कैसे जाए ? माया जो छाई हुई है, संसार में सर्वत्र अज्ञान जो फैला हुआ है। इस अज्ञान से पीछा तभी छूट सकता है, जब हम शोध की प्रक्रिया को निरन्तर चलाते रहें।

अतः दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि शोध का परम उद्देश्य निरन्तर अज्ञान को मिटाते हुए ज्ञान का प्रकाश फैलाते चलना है।

जो लोग शोध का उद्देश्य कहीं विराम पा लेना मानते हैं, वे भ्रम में हैं। जैसा कि मैंने पहले कहा, यह एक निरन्तर प्रक्रिया है। ज्ञान की कोई सीमा नहीं है और इसीलिए शोध का भी कोई सीमित उद्देश्य या लक्ष्य नहीं है। विज्ञान में शोध के परिणामों को शाश्वत मानकर जो लोग सन्तोष कर लेते हैं, वे गहरे अन्धकार में हैं। मानविकी तथा समाजशास्त्र के विषयों में भी शोध के उद्देश्यों की कोई एक सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती।

जिस प्रकार विज्ञान में पहले अणु को पदार्थ का न्यूनतम अंश माना जाता था, किन्तु शोध की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहने से यह तथ्य सामने आया कि परमाणु ही न्यूनतम

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अंश हो सकता है। अब विज्ञान इससे भी आगे बढ़ रहा है। यह शोध परिणाम विज्ञान की ही देन हो, ऐसा नहीं है, यह सत्य तो सांख्यकारों ने सदियों पहले मानव जाति को बता दिया था। उन्होंने तो परमाणु से भी आगे बढ़कर तन्मात्राओं को पदार्थ का न्यूनतम अंश घोषित किया था। किन्तु अभी तक प्रमाणों और प्रयोगों से इसे पुष्ट नहीं कर पाये हैं। अतः शोध का यह उद्देश्य भी नहीं भुलाया जा सकता कि पूर्व ज्ञात सत्य को भी प्रमाणित करके ही ग्रहण किया जाए।

यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शोध किसी भी प्रक्रिया से गुजरे, उसका मूलभूत उद्देश्य मानव-कल्याण ही होता है। मानविकी विषयों में हम शोध के इस उद्देश्य की स्थापना का ही बार-बार प्रयत्न करते हैं। विज्ञान में शोध का यह उद्देश्य कभी-कभी भुला दिया जाता है, इसीलिए संसार में संकट आते हैं तथा शोध पर किया गया श्रम और धन कभी-कभी बेकार सिद्ध हो जाता है। उदाहरण के लिए, "एटम बम" का आविष्कार शोध का परिणाम है, किनतु उससे मानव-कल्याण के स्थान पर भयंकर विनाश होता है। पहले पदार्थ (मैटर) तथा ऊर्जा (एनर्जी) दो भिन्न तत्त्व माने जाते थे, परन्तु नवीन शोध के फलस्वरूप दोनों को एक ही सिद्ध किया गया। आइंस्टाइन से प्रेरणा लेकर जर्मनी के वैज्ञानिक "हान" और "स्टासगान" ने पदार्थ को ऊर्जा में परिवर्तित करने के कार्य में सफलता प्राप्त की। शोध-प्रक्रिया आगे बढ़ी। पता चला कि यूरेनियम पदार्थ को विशेष मात्रा में एक साथ रख देने पर परमाणु स्वतः टूटने लगते हैं जिससे भयंकर अग्नि निकलती है। इसी प्रक्रिया का परिणाम हुआ "एटम बम" का निर्माण। विज्ञान का यह शोध कार्य मानव-जाति के लिए अकल्याणकारी ही सिद्ध हुआ, जो शोध का कदापि उद्देश्य नहीं माना जा सकता।

मानविकी विषयों में भी कभी-कभी शोध की दिशा अकल्याण की ओर मुड़ जाती है, मनुष्य के विचार और भाव कभी-कभी अणुबम से भी अधिक घातक सिद्ध होते हैं। अतः जो लोग मानविकी विषयों में अनुसंधानरत हैं, उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि शोध का परम उद्देश्य उन विचारों, भावों और अनुभवों का परिशोधन करना है, जो मानव जाति के कल्याण में सहभागी हो सकते हैं। जो विचार एक जाति या वर्ग के लिए कल्याणकारी हों और दूसरी जाति या वर्ग के लिए विनाशकारी सिद्ध हों, उसे शोध का लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए। ऐसे ज्ञान को प्रकाश में लाने से अधिक श्रेयस्कर यही होगा कि हम उसे अज्ञान के गर्त में सदा के लिए दबा दें।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

2

अनुसंधान की उपयोगिता

शोध या अनुसंधान का हर क्षेत्र में बहुत महत्त्व है। ज्ञान के क्षेत्र में तो इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। समय और स्थान के अनुसार ज्ञान में भी परिवर्तन होता रहता है। जो वस्तु आज जिस रूप में है या आज उसकी जो विशेषता है, वह कल अर्थात् कुछ काल के पश्चात् भी रहेगी यह कहना कठिन है। एक देश का सत्य दूसरे देश में बदल सकता है। यही कारण है कि हमें हर प्रकार के ज्ञान को समय-समय पर प्रयोग करके वैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध करना पड़ता है। यदि ऐसा न किया जाए, तो एक देश-विदेश का ज्ञान विभिन्न प्रभावों से मलिन होकर दूसरे समय में अन्य देश के जीवन को संकट में डाल सकता है। इसीलिए शिक्षा का मुख्य कार्य केवल ज्ञान का प्रसार करना ही नहीं है, बल्कि ज्ञान को शुद्धता की कसौटी पर कसते चलना भी है। इस दृष्टि से शोध या अनुसंधान की ज्ञान के संशोधन में बहुत उपयोगिता है।

साहित्यिक शोध के विषय में विद्वानों का ध्यान बीसवीं शताब्दी में ही विशेष रूप से गया, उससे पहले आलोचना ही महत्त्वपूर्ण थी। अब यह सभी विद्वान मानने लगे हैं कि साहित्यिक रचनाओं के सत्यों, मूल्यों और कलात्मक सौन्दर्य को प्रकट करने के लिए शोध की दृष्टि से आलोचना करना बहुत आवश्यक है। किसी भी साहित्यिक रचना के सौन्दर्य की व्याख्या करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उस सौन्दर्य के कारणों, स्थितियों और आधारों का पता लगाना भी अब आवश्यक माना जाने लगा है। इन बातों को समझे बिना रचना-सौन्दर्य कोई अर्थ नहीं रखता। उदाहरण के लिए, यदि किसी रचना में उपवन, कोयल की कूक, बसंत की मोहकता आदि का वर्णन है और वातावरण में कोई नर्तकी नृत्य कर रही है, भाषा में भी मधुरता है, तो आलोचक उस समस्त वर्णन को सुन्दर बता सकता है। लेकिन जब वह आलोचक यह भी पता लगाता है, अर्थात् इस बात का शोध करता है कि वह वर्णन किस क्षेत्र से सम्बन्धित है तथा वह नर्तकी नृत्य क्यों कर रही है और उसे यह पता चलता है कि उस

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्षेत्र में अकाल पड़ रहा है, लोग पानी की एक-एक बूँद के लिए तरस रहे हैं, चारों ओर धूल उड़ रही है, हरियाली का कहीं नामो-निशान नहीं है, पक्षी गर्मी से झुलस-झुलस कर सूखे पेड़ों का आश्रय छोड़ या तो कहीं चले गये हैं या मर कर सूखे पत्तों की तरह भूमि पर गिर गये हैं, तब उस आलोचक का मत बदल जाता है। वह उस कविता के विषय में अनेक प्रश्न खड़े कर देता है और उसके कलात्मक मूल्य को चुनौती देने लगता है। वास्तव में यही शोध-दृष्टि आलोचना को सही दिशा में आगे बढ़ाती है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि आलोचना को विश्वसनीय बनाने के लिए शोध की बहुत उपयोगिता है।

यों शोध का कार्य बहुत नीरस है जबकि रचना और आलोचना में बहुत सरसता होती है, लेकिन शोध की नीरसता के बिना रचना और आलोचना की सरसता जीवित नहीं रह सकती। शोध से रचना के मूल में छिपे आनंद तक हम पहुँचते हैं। आलोचना को किसी मर्म तक शोध के द्वारा ही पहुँचाया जा सकता है। कोई भी रचना सीधे-सीधे सामान्य शब्दों से नहीं बनती, कवि या लेखक लक्षण और व्यंजना का सहारा लेकर वक्र (टेढ़े) ढंग से अपनी बात कहता है। इस वक्रता को समझे बिना कोई भी पाठक केवल ऊपरी तौर पर ही आनंद ले सकता है, लेकिन जब भाव की गहराई तक पहुँचने के लिए उस वक्रता की पहचान की जाती है, तब रचना का ऐसा स्वाद मिलता है, जो हृदय और मस्तिष्क पर स्थायी प्रभाव डालता है। इसलिए शोध की उपयोगिता को भुलाया नहीं जा सकता।

साहित्य के विषय अनेक प्रकार के होते हैं। ये विषय ऐसे भी हो सकते हैं, जो बहुत पुराने हों और ऐसे भी हो सकते हैं, जो एकदम नये हों। यहाँ तक कि ऐसे विषय भी हो सकते हैं, जिनकी अभी केवल कल्पना ही की गई हो तथा भविष्य में ही उनका स्वरूप सामने आये। शोध के बिना इन सभी प्रकार के विषयों को समझना या समझ पाना संभव नहीं। समय की सीमा पार करके शोधकर्त्ता उन विषयों के रहस्य खोलता है और तभी उनका सही अर्थ प्रकाश में आता है, इसलिए भी शोध की उपयोगिता सिद्ध है।

साहित्य की दीवार भाषा पर खड़ी है। विशेष भाषा का प्रयोग करके ही साहित्यकार अपनी रचना में कोई अर्थ भर सकता है। सामान्य भाषा साहित्य नहीं बन सकती। जब भाषा के विशेष प्रयोग की ओर कोई कवि या लेखक बढ़ता है, तब उसके हर शब्द के पीछे उसके मन की एक भूमिका रहती है। शोधकर्त्ता इस भूमिका को स्पष्ट करता है और तभी पाठक एवं आलोचक भी रचना को सही ढंग से समझ पाते हैं। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि शोध के द्वारा हम रचना करने वाले की भाषा के सही प्रयोग तक पहुँचते हैं। यदि ऐसा न हो तो रचना और रचनाकार दोनों के प्रति अन्याय होने का खतरा बराबर बना रहता है। एक उदाहरण लीजिए— जयशंकर प्रसाद ने कामायनी में लिखा है—

अरे अमरता के चमकीले
पुतले ! तेरे वे जयनाद।

और—

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अरी आँधियों ! ओ बिजली की
दिवा-रात्रि ! तेरा नर्तन।

आलोचक इन दोनों उदाहरणों में "तेरे" व "तेरा" शब्दों पर आपत्ति करते रहे हैं। उनका यह मत बनता रहा है कि प्रसादजी ने पहले उदाहरण में बहुवचन के लिए एक वचन शब्द "तेरे" का प्रयोग गलत किया है तथा दूसरे उदाहरण में "की" व "तेरा" दो गलत प्रयोग किये हैं। वे कहते हैं कि बिजली की नहीं, "बिजली के" प्रयोग होना चाहिये। "तेरा" का प्रयोग भी वे यह कह कर गलत बताते हैं कि दिवा-रात्रि दो हैं, जब कि "तेरा" शब्द एकवचन है। वास्तव में यह केवल आलोचना है, इसमें शोध का अभाव है। "कामायनी का नया अन्वेषण" ग्रन्थ में पृष्ठ 161 पर आलोचकों के इन मतों का शैव दर्शन सम्बन्धी शोध के आधार पर खण्डन किया गया है और यह शुद्ध मत व्यक्त किया गया है कि पहले उदाहरण में "तेरे" शब्द का प्रयोग अमरता के लिए हुआ है। अमरता एकरूप है, उसके पुतले अनेक हैं। प्रलय के समय वे पुतले अपनी अनेक रूपता खोकर एकरूप में आ चुके थे। इसी प्रकार "बिजली की दिवा-रात्रि" में बिजली घने बादलों के कारण दिवा यानी दिन भी रात्रि के समान बन गया है। बिजली चमक कर बादलों के होने का संकेत दे रही है। यह रात्रि बिजली की रात्रि है, जो दिवा (दिन) से बनी है। यह "दिन" से बनी हुई "रात्रि" ही नर्तन (नाच) कर रही है। इसलिए "की" और "तेरा" दोनों शब्दों का प्रयोग प्रसादजी ने बहुत सही ढंग से किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शोध की यह दृष्टि यदि न अपनाई जाए तो कवि प्रसाद के साथ आलोचक अन्याय ही करते रहेंगे। अतः यह मानना कुछ अर्थ रखता है कि साहित्य के सही अर्थ और भाषा के सही प्रयोग को समझने के लिए शोध की बहुत उपयोगिता है।

शोध के द्वारा हम रचना के उन पक्षों पर भी विचार कर लेते हैं जिनका रचना से सीधा सम्बन्ध तो नहीं होता, किन्तु जिनको जाने बिना रचना के भाव को पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता और न रचना करने वाले के प्रयोजन को समझा जा सकता है। रचना के शुद्ध लिखित रूप का निर्णय भी शोध के बिना संभव नहीं है। रचना करने वाला सदा जीवित नहीं रह सकता और जीवित भी हो तो हर किसी को वह मिल नहीं सकता। तब किससे पूछें कि उसकी रचना का सही लिखित रूप क्या है ? शोध करने वाला ही रचना के सही पाठ का निर्णय करता है।

अतः हम कह सकते हैं कि शोध की साहित्य के क्षेत्र में भी बहुत उपयोगिता है।

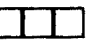

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

3

अनुसंधान के प्रकार

अनुसंधान या शोध के निम्नांकित प्रकार हो सकते हैं—

1. मौलिक शोध
2. ऐतिहासिक शोध
3. मूल्य-परक शोध
4. व्याख्यात्मक शोध
5. सर्वेक्षणात्मक शोध
6. प्रयोगात्मक शोध
7. संकलनात्मक शोध

शोध के व्यापक अर्थ को ध्यान में रखते हुए उक्त प्रकारों पर भेदात्मक दृष्टि से विचार किया जा सकता है।

1. मौलिक शोध

संसार में मनुष्य ने अनेक नये चमत्कार कर दिखाये हैं। किसी ने आकाश में उड़ने का विचार किया होगा, किसी ने वायुयान की खोज कर डाली। रेलगाड़ी का आविष्कार हुआ। तार द्वारा समाचार भेजने का चमत्कार सामने आया। बिना तार के भी बातचीत होने लगी। आइंस्टाइन ने पदार्थ और ऊर्जा को अभिन्न सिद्ध कर डाला। इस प्रकार के अनेक शोध-कार्य समय-समय पर सामान्य व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न हुए और देखते-देखते वे व्यक्ति संसार के सर्वाधिक महान् व्यक्ति बन गये। शोध या खोज का यह प्रकार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा पूर्णतः मौलिक माना जाता है।

केवल मौलिक आविष्कार ही मौलिक शोध की सीमा में नहीं आते, दार्शनिक चिन्तन की महती उपलब्धियाँ भी इसी श्रेणी में आती हैं। वैदिक ऋषियों ने अपनी ज्ञान-दृष्टि से जिन दार्शनिक तथ्यों का पता लगाया या प्रयोगशाला में गये बिना जो औषध-ज्ञान प्रस्तुत किया गया, वह मौलिक शोध की ही सीमा में आता है। विश्वविद्यालयों में बैठ कर इस प्रकार के शोध-कार्य तब तक संभव नहीं हैं, जब तक निःस्वार्थ, निरहंकार, निर्लोभ भावों

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से सतत् साधना के साथ शोध का कार्य न किया जाए। इस प्रकार के शोध-कार्यों के लिए समय की सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। उपाधियों के लिये भी इस प्रकार के शोध-कार्य नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें कभी-कभी पूर्ण जीवन ही होम देना पड़ता है।

2. ऐतिहासिक शोध

भूतकाल में संसार का इतिहास जिन-जिन दिशाओं में प्रगति कर चुका है, उन सभी दिशाओं में मनुष्य के प्रमाणित प्रयत्न और कार्य सम्पन्न हुए हैं। ये कार्य वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय साहित्यों, भाषाओं, कलाओं आदि के विभिन्न विषयों में किये गये हैं। इन्हीं प्रयत्नों और कार्यों से मानव-संस्कृति और सभ्यता का अब तक का विकास सम्भव हुआ है। इस समस्त विकास का प्रत्येक विषय के क्षेत्र में निर्धारित परिकल्पना के आधार पर वैज्ञानिक पद्धति से अन्वेषण करना और मौलिक निष्कर्षों तक पहुँचना ऐतिहासिक शोध कहा जा सकता है।

3. मूल्य-परक शोध

ऐतिहासिक शोध का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है। वह काल की सुदीर्घ परम्परा से भी जुड़ा हो सकता है। किन्तु एक क्षेत्र विशेष में एक काल-खण्ड चुनकर किसी निश्चित परिकल्पना के आधार पर जब मूल्यों की खोज की जाती है, तब उसे मूल्य-परक शोध कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, हम किसी काल-विशेष की कला-कृतियों में मानव के सौन्दर्य-बोध की खोज करें, तो वह मूल्य-परक शोध की श्रेणी की शोध होगी। इसी प्रकार किसी साहित्य में हमारे सांस्कृतिक मूल्यों को खोजने का प्रयास मूल्य-परक शोध की सीमा में ही आयेगा।

4. व्याख्यात्मक शोध

शोध का एक प्रकार वह भी होता है, जब हम किसी उपलब्ध ज्ञान की व्याख्या करके मौलिक तथ्यों का प्रतिपादन करते हैं। यह स्थिति सभी विषयों में तब तक बनी रहती है, जब तक उचित व्याख्या के अभाव में हम अज्ञान का अनुसरण करते रहते हैं। किसी भी जाति को सदियों की गर्त से बाहर निकालकर एक निर्मल दृष्टि देने के लिए व्याख्यात्मक शोध की आवश्यकता होती है। ज्ञान-विज्ञान की अनेक उपलब्धियाँ मानवीय व्यवहार से या कभी-कभी काल-यात्रा के साथ समाज में दूषित वातावरण पैदा कर देती हैं या अन्धानुकरण की शरण बन जाती है। ऐसी स्थिति में यदि मानव के अन्ध ज्ञान की पुनर्व्याख्या न की जाये, तो समस्त ज्ञान ही अज्ञान बन जाता है।

5. सर्वेक्षणात्मक शोध

संसार में निरन्तर ज्ञान-वृद्धि हो रही है। मानव-समुदायों का विकास हो रहा है, सामाजिक और वैयक्तिक समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में सर्वाधिक प्राथमिकता

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का कार्य यह हो गया है कि हम विभिन्न स्थितियों का सर्वेक्षण करके मौलिक तथ्य प्रस्तुत करें। विश्वविद्यालयों के विभिन्न विषयों के शोधार्थियों के लिए सर्वेक्षण करना भी एक महत्त्वपूर्ण शोध कार्य हो गया है। उदाहरणार्थ, यदि कोई यह पता लगाने के लिए सर्वेक्षण करे कि किसी क्षेत्र विशेष में किन-किन धर्मों के लोग अपने धर्म के नियमों का वास्तव में पालन करते हैं तथा कितने लोग ऐसे हैं, जो केवल अन्य लोगों की नकल करके केवल लोकाचार निभाने के लिए धार्मिक व्यवहार दिखाते हैं, तो इस प्रकार का शोध कार्य सर्वेक्षणात्मक शोध ही कहा जायेगा। इस प्रकार के शोध-कार्य के लिए विभिन्न क्षेत्रों की यात्रा करके तथा विभिन्न व्यक्तियों से सम्पर्क साध कर प्रश्नावली के उत्तर प्राप्त करना एवं निष्कर्षों तक पहुँचना आवश्यक होता है। किन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर विश्लेषण-विवेचन करके ही निष्कर्ष निकालने होते हैं।

6. प्रयोगात्मक शोध

शोध का यह प्रकार आजकल बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है, किन्तु यह सभी विषयों पर लागू नहीं हो सकता। विज्ञान के विषयों में ही इस प्रकार की शोध की जा सकती है। इसके लिए विषय के अनुसार व्यवस्थित प्रयोगशाला आवश्यक होती है, जहाँ बैठकर शोधकर्मी अपना कार्य करता है। प्रयोगशाला के लिए आवश्यक यंत्र, रसायन आदि तो जुटाने ही पड़ते हैं, साथ ही उसे जलवायु की दृष्टि से भी नियंत्रित करना होता है। शोधार्थी निर्धारित सीमा में आवश्यक उपकरणों का सहारा लेकर अपनी परिकल्पना के अनुसार प्रयोग पर प्रयोग करता जाता है तथा जो परिणाम निकलते जाते हैं, उनका आकलन भी करता जाता है।

विज्ञान के समान ही मनोविज्ञान विषय के लिए भी प्रयोगशाला की आवश्यकता होती है। इस विषय में भी प्रयोगों द्वारा नये अनुसंधान किये जाते हैं, किन्तु यह प्रयोगशाला विज्ञान की प्रयोगशाला से भिन्न प्रकार की होती है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रयोगात्मक शोध के लिए यंत्रादि उपकरण तो जुटाये जाते हैं, किन्तु उनमें प्रयोग का विषय मनुष्य ही होता है। यों चूहों, पक्षियों आदि पर भी आरंभिक प्रयोग मनोविज्ञान- वेत्ताओं ने किये हैं, किन्तु उन सब का लक्ष्य मनुष्य ही रहा है। उसी के अन्तर्मन की खोज और मौलिक तथ्यों तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रयोगात्मक शोध का लक्ष्य रहा है।

चिकित्सा विज्ञान में भी प्रयोगात्मक शोध का ही प्रयोग होता है। यहाँ भी प्रयोगशालाओं, यंत्रादि उपकरणों, जलवायु-नियंत्रित कक्षों आदि की आवश्यकता होती है, किन्तु यहाँ विभिन्न रसायनों के साथ मनुष्य शरीर भी प्रयोग का विषय बनता है। भौतिक विज्ञानों में जीव-विज्ञान के अनुसंधान से इसका सीधा सम्बन्ध है। दोनों में ही जीवधारी पर प्रयोग किये जाते हैं, किन्तु चिकित्सा विज्ञान में अन्य जीवों की तुलना में मनुष्य को अधिक प्रयोग का विषय बनाया जाता है। साथ ही, चिकित्सा विज्ञान में भौतिक विज्ञान क्षेत्र के वनस्पति विज्ञान का भी विकसित प्रयोग-क्षेत्र काम आता है। विभिन्न वनस्पतियों का भी औषध-गुण प्रयोगात्मक पद्धति से चिकित्सा-विज्ञानी शोध लेते हैं।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

7. संकलनात्मक शोध

शोध का एक प्रकार वह भी होता है, जिसमें आँकड़ों का संकलन किया जाता है और उसके द्वारा मौलिक निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इसे हम सांख्यिकीय शोध भी कह सकते हैं। गणित जैसे विषयों में तो इसी पद्धति से मौलिक परिणाम सामने आते हैं। समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि कतिपय विषयों में भी इस प्रकार के शोध के लिए पर्याप्त गुंजाइश रहती है। यह शोध भी कई दृष्टियों से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण होती है। किसी भी देश की जनसंख्या, उनके समुदाय, समुदाय-गत विभिन्न प्रवृत्तियों आदि का अनुसंधान इस प्रकार के शोध के द्वारा ही संभव होता है।

निष्कर्ष

अन्त में हम कह सकते हैं कि शोध के कई प्रकार होते हैं और सभी प्रकार सभी विषयों पर समान रूप से लागू नहीं होते। हर विषय की प्रकृति, क्षेत्र, गुणवत्ता, काल-सीमा आदि के अनुसार किसी एक या अधिक प्रकार के शोध का मार्ग अपनाया जाता है।

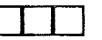

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

4

अनुसंधान की प्रविधियाँ

अनुसंधान एक कठिन कार्य है। यह कार्य जहाँ से आरम्भ होता है और एक लम्बी यात्रा के पश्चात् जहाँ पूर्ण होता है, वहाँ तक शोधकर्त्ता को निरन्तर सतर्क होकर विषय के विभिन्न पक्षों का अवलोकन करते हुए सत्य-संग्रह करना पड़ता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह एक सुनिश्चित ढंग से कार्य करे, ताकि वह इधर-उधर न भटक जाए। इसी सुनिश्चित ढंग को शास्त्रीय शैली में "प्रविधि" कहा जाता है। यह शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है तथा भ्रम भी पैदा कर सकता है। इसलिए अनुसंधान-प्रविधि की अर्थ-सीमा को भली-भाँति समझ लेना आवश्यक है।

अनुसंधान या **शोध** का उद्देश्य नवीन ज्ञान की प्राप्ति तक सीमित नहीं है। ज्ञान को शुद्ध करना तथा उसमें वृद्धि करना भी उसका उद्देश्य है। अतः शोधकर्त्ता जहाँ तक और मौलिक सिद्धान्तों की प्राप्ति करता है, वहीं नवीन और प्राचीन के अन्तर को तुलनात्मक ढंग से समझकर वास्तविक एवं उपयोगी तथ्यों तक भी उसे पहुँचना पड़ता है। सिद्धान्त का तब तक कोई महत्त्व नहीं है, जब तक व्यवहार में उसका उपयोग न हो, इसलिए अनुसंधान का विशेष बल सिद्धान्त के व्यावहारिक पक्ष पर भी रहता है। इस दृष्टि से प्रयोग-प्रक्रिया का सहारा आवश्यक हो जाता है। अधिक स्पष्टता के लिए यह कह सकते हैं कि तथ्यों की खोज करना, पूर्व ज्ञात तथ्यों का पुनराख्यान करना एवं तथ्य-खोज तथा पुनराख्यान के द्वारा सिद्धान्त निर्माण करना भी अनुसंधान का लक्ष्य रहता है।

लक्ष्य के अनुसार ही अनुसंधान-प्रविधि में कुछ विद्वान् निम्नांकित तीन बातों को मुख्य मानते हैं—

1. अनुसंधानकर्त्ता का प्रशिक्षण, शोध-प्रवृत्ति एवं प्रयोजन की स्पष्टता।
2. अवधारणा का सुचारू निर्धारण।
3. आधार-सामग्री का संगठन, विश्लेषण, विवेचन एवं प्रस्तुतिकरण सम्बन्धी पद्धतियाँ।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कुछ विद्वान केवल आधार-सामग्री के संगठन, विश्लेषण, विवेचन एवं प्रस्तुतिकरण से सम्बन्धित पद्धतियों तक ही अनुसंधान-प्रविधि के क्षेत्र का विस्तार मानते हैं, किन्तु यह प्रविधि की अपूर्णता ही मानी जाएगी। जब तक अनुसंधान-कर्त्ता को प्रशिक्षण नहीं मिलेगा, शोध-कार्य में उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी तथा वह अपने प्रयोजन को नहीं समझेगा, तब तक अनुसंधान की लम्बी यात्रा सफल नहीं हो सकेगी। आजकल प्रायः यह देखा जाता है कि स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करते ही हर विद्यार्थी उपाधि-परक अनुसंधान में लग जाना चाहता है। न वह अनुसंधान के अर्थ को समझने की प्रक्रिया से गुजरता है, न अन्य कोई प्रशिक्षण प्राप्त करता है और न उसमें शोध की वास्तविक प्रवृत्ति ही होती है। कई ऐसे शोधार्थी मिलते हैं, जो विषय का पंजीकरण कराने तक उत्साह दिखाते हैं और उसके पश्चात् इधर-उधर से बनी-बनाई सामग्री एकत्र करके एक पोथा टंकित करा देना चाहते हैं तथा उपाधि जल्दी मिल जाए, इसके लिए लालायित रहते हैं। उनका प्रयोजन सत्यान्वेषण कम होता है, उपाधि प्राप्त करके लाभ अर्जित करना अधिक। ऐसे शोधार्थियों के लिए किसी भी अनुसंधान-प्रविधि का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

जब शोधार्थी को किसी सत्य तक पहुँचने की तीव्र आकाँक्षा होती है, तभी वह शोध-विषय की सही अवधारणा कर पाता है और तभी उसकी शोध-यात्रा को सही दिशा मिलती है। प्रसिद्ध विद्वान् ग्राहम का मत है कि अनुसंधान शास्त्र नियमों के उस संग्रह का नामकरण है, जिन नियमों से सांसारिक ज्ञान का सुचारू पद्धति से निर्माण होता है और उस ज्ञान के सत्य का परीक्षण करने के लिए अनुशीलन किया जाता है। वस्तुतः प्राप्त ज्ञान और सत्य की प्राप्ति मात्र पर्याप्त नहीं है। यह स्थापित करना भी आवश्यक होता है कि कोई वस्तु या उपलब्धि सत्य क्यों है और उसकी सत्यता की पहचान किस आधार पर की जा सकती है ? केवल अनुसंधानकर्त्ता के संतोष के लिए शोध-कार्य नहीं होता। वह जिन तथ्यों तथा निष्कर्षों को सत्य मानता है, उनके प्रति हर जिज्ञासु को सन्तुष्ट करना भी उसका दायित्व होता है। किन्तु यह कार्य तभी हो सकता है, जब वह अपने मत के प्रतिपादन के लिए पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करे और वे प्रमाण ऐसे हों जिनके प्रति किसी प्रकार के संदेह की दृष्टि न उठ सके।

शोधकर्त्ता को यह नहीं भूलना चाहिए, अनुसंधान की प्रविधि ऐसी होती है, जो सदैव नवीन तथ्यों की ओर उसे अग्रसर होती है। यदि उसे ऐसा प्रतीत होने लगे कि वह नवीन तथ्यों की ओर अग्रसर नहीं हो रहा है, तो उसे स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि वह जिस शोध-पद्धति का सहारा ले रहा है वह पर्याप्त और उपयुक्त नहीं है। वस्तुतः नये तथ्यों की ओर बढ़ने के लिए यह आवश्यक होता है कि उसके कार्य के विषय में जो भी प्रश्न उठें, उनका समाधान उसके पास हो तथा ऐसी स्थिति भी बनी रहे कि प्रत्येक समाधान नये प्रश्नों को जन्म दे एवं एक दिशा-विशेष में उसके कार्य को ले जाए।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनुसंधान किसी भी विषय का हो, शोधकर्त्ता को यह देखना होता है कि विषय के बोध का निरन्तर विकास होता चले, उस बोध की निश्चयात्मकता बनी रहे, उसके प्रति विश्वसनीयता रहे तथा ज्ञान के संशोधन के अवसरों में वृद्धि हो।

वस्तुतः अनुसंधान-प्रविधि शोधार्थी से आरंभ होकर विषय के गंभीर विश्लेषण-विवेचन से होती हुई मानव-कल्याण तक जाती है। यदि एक व्यक्ति शोध करके सत्य का उद्‌घाटन करता है, तो दूसरा (सामाजिक व्यक्ति) उस सत्य का उपयोग करता है। यह सत्य विषय-सामग्री से आता है और उपयोग भी उस सामग्री का ही किया जाता है। अतः शोध की सभी पद्धतियाँ पूर्वोक्त त्रिकोण से घिरी हुई हैं।

विषय-सामग्री, जिससे सत्य प्राप्त किया जाता है, समाज के उपयोग की वस्तु है, अतः शोध की सही दिशा का ज्ञान बहुत आवश्यक है। जब तक शोध-कार्य सामाजिक प्रगति में सहायक नहीं होता, तब तक अनुसंधान-प्रविधि का लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता। मनुष्य की सांस्कृतिक उन्नति के लिए ही प्रत्येक अनुसंधान की आवश्यकता होती है। भौतिक विकास भी अन्ततोगत्वा एक विकसित संस्कृति का ही पर्याय माना जा सकता है। इस दिशा में शोध-कार्य को अग्रसर करने के लिए उसकी प्रविधि की शुद्धता और प्रामाणिकता बहुत आवश्यक होती है।

शोध-प्रविधि के भेद

शोध या अनुसंधान की प्रविधि के कई भेद हैं। साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र में आजकल अधिकांशतः जो प्रविधि प्रचलित है, वह विभाजनवादी है। यह प्रविधि पर्याप्त नहीं है। विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से जिन प्रविधियों का आविष्कार किया है, वे निम्नांकित हैं—

(अ) विषय-सम्बन्धी भेद

1. **विभाजनवादी परम्परागत प्रविधि**
2. **अन्तर्मुख मानस-प्रत्यक्ष प्रविधि**
3. **दार्शनिक प्रविधि**
4. **मनोविश्लेषण-प्रविधि**
5. **प्रायोगिक मनोविज्ञानवादी प्रविधि**
6. **समाजशास्त्रीय प्रविधि**
7. **विविध ज्ञानात्मक प्रविधि**

(ब) शैलीगत भेद

1. साहित्यिक शैली-प्रविधि
2. धारणात्मक शैली-प्रविधि
3. वैज्ञानिक शैली-प्रविधि
4. प्रयोगात्मक शैली-प्रविधि

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ हम संक्षेप में उपर्युक्त सभी अनुसंधान प्रविधियों पर विचार करेंगे—

(अ) विषय-सम्बन्धी भेद

1. विभाजनवादी परम्परागत प्रविधि

यह अनुसंधान की वह प्रविधि है, जिसके अनुसार विषय का परीक्षण विभिन्न तत्त्वों के अनुसार उसका विभाजन करके किया जाता है। उदाहरणार्थ, साहित्यिक कृतियों के अनुसंधान में एक परम्परा चली आ रही है कि कृतित्व को शब्द, अर्थ, विषय-सामग्री, रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य, अलंकार, काव्यानुभूति आदि में विभाजित करके देखा जाता है और तदनुकूल ही विश्लेषण-विवेचन करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इस प्रविधि के साथ अन्य प्रविधियों का भी मिश्रण कर दिया जाता है। फलतः समस्त अध्ययन खिचड़ी बन जाता है और निष्कर्षों की प्रामाणिकता पर प्रश्न-चिह्न लग जाता है। हिन्दी साहित्य और भाषिकी तक में इस प्रकार की मिश्रित परम्परावादी विभाजन-प्रविधि बिना सोचे-समझे अपनाई जा रही है।

2. अन्तर्मुख या मानस प्रत्यक्ष प्रविधि

इस प्रविधि के अनुसार कवि और सहृदय के मन में उतर कर उसका मर्म समझना, मानस का प्रत्यक्षीकरण होना आवश्यक है। इस प्रविधि में वैयक्तिकता की प्रधानता रहती है तथा प्रमाण एवं निष्कर्ष प्रायः प्रभावपरक हो जाते हैं। एक ही विषय के अनुसंधान में इस प्रविधि से जब-जब भिन्न-भिन्न विद्वान् प्रवृत्त होते हैं, तब उनके निष्कर्ष भी समान नहीं होते। फलतः कृति का सत्य ही बदल जाता है। या यह कहा जा सकता है कि अविश्वसनीय हो जाता है।

3. दार्शनिक प्रविधि

हिन्दी साहित्य तथा विभिन्न कलाओं के अनुसंधान में दर्शन के आधार पर सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति भी चल पड़ी है। इस प्रविधि के अनुसार किसी दर्शन का ढाँचा शोध-विषय पर लागू कर दिया जाता है। दार्शनिक चिन्तन-वृत्त में स्थित होकर किया गया अनुसंधान मूल विषय को एक बाह्य सत्य से आवृत्त कर देता है और कृति का सत्य दबा रह जाता है। उदाहरणार्थ, तुलसी, सूर, पंत, निराला आदि किसी भी कवि के काव्य का अध्ययन करते समय जब किसी दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों को आधार बनाया जाता है , तब कवि की मूल रचना-शक्ति और भाव-प्रक्रिया अछूती रह जाने के अनेक खतरे सामने आते हैं। अनुसंधान की यह प्रविधि भी इस दृष्टि से किसी निर्विवाद सत्य तक नहीं पहुँचाती।

4. मनोविश्लेषण प्रविधि

हिन्दी साहित्य के अनुसंधान में इस प्रविधि का भी पिछले कुछ वर्षों में पर्याप्त प्रयोग हुआ है। यह प्रविधि मनोवैज्ञानिक प्रविधि भी कहलाती है। इस प्रविधि के द्वारा

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मनुष्य के कार्यों में अन्तर्निहित इच्छाओं का उद्घाटन करके सतत् पहुँचना होता है। व्यक्ति इस प्रविधि का मूल शोध-केन्द्र होता है। कारण भी स्पष्ट है, क्योंकि साहित्य की रचना के मूल में व्यक्ति का मानस एवं तज्जन्य उसके व्यवहार ही रहते हैं। व्यक्तित्व के विकास का अध्ययन करने में यह प्रविधि अधिक उपयोगी सिद्ध होती है, किन्तु एकांगी होने के कारण अन्य प्रविधियों का सहारा लिए बिना इस प्रविधि से अनुसंधान-कार्य प्रामाणिक नहीं हो सकता।

हिन्दी के अनेक शोधकर्त्ता अन्धानुकरण के रूप में इस शोध प्रविधि को अपना रहे हैं। वे वैज्ञानिक ढंग से मनोविश्लेषण करके रचना और रचनाकार का अध्ययन नहीं करते, बल्कि फ्रायड, युंग एवं एडलर की मान्यताओं को यथावत् आरोपित करके पूर्व-निर्धारित प्रतिमानों के आधार पर रचना का परीक्षण करते हैं जिसका परिणाम ही यह होता है कि वे बाह्य मानसिक संस्कारों में खो जाते हैं। फ्रायडवादी धारणाओं को हमारे साहित्य पर ज्यों का त्यों आरोपित नहीं किया जा सकता। अचेतन, उपचेतन, चेतन इड ईगो आदि के विभाजन में और शास्त्रीय अलंकार, रस, रीति आदि के विभाजन में समान दोष हैं। कोई भी कलाकृति विभिन्न टुकड़ों में नहीं बाँटी जा सकती। चेतन, अवचेतन और उपचेतन का पारस्परिक प्रभावित होना भी भिन्न काल-सापेक्ष नहीं है। कोई भी व्यक्तित्व चेतन और उपचेतन के द्वन्द्व के बिना सार्थक नहीं हो सकता। अतः इनको अलग-अलग करके अनुसंधान करना हास्यास्पद ही कहा जायेगा।

5. प्रायोगिक मनोविज्ञानवादी प्रविधि

कला या साहित्य में उसके अवयव, अन्वय की क्रिया से ही स्पष्ट हो पाते हैं। "काव्यप्रकाश" में मम्मट ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है और उसे अन्विताभिधानवाद कहा है। संस्कृत के अन्विताभिधानवादी आचार्य अर्थ-सिद्धान्त या शब्द-शक्ति सिद्धान्त तक ही सीमित थे, मनोविज्ञान तक उनकी पहुँच नहीं थी। पाश्चात्य गैस्टाल्ट-मनोविज्ञानवादियों ने अवयवी की पूर्ण प्रतीति पर पर्याप्त विचार किया। उनका निष्कर्ष था कि वैज्ञानिक अनुसंधानों में अवयवों के विश्लेषण पर दृष्टि केन्द्रित रहती है और अवयवों को समझ कर अवयवी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जाता है। वस्तुतः दृष्ट रूपों में अंशी, अंश को दबा देता है, इसलिए वैज्ञानिक दृष्टि भी अवयवी की प्रतीति के उपरान्त अवयव-विश्लेषण की ओर जानी चाहिए। ठीक इसी प्रकार मानव-व्यवहार की भी व्याख्या होनी चाहिए। मनोविश्लेषणवादी प्रविधि में ऐसा नहीं हुआ। उसमें चेतन-उपचेतन के कृत्रिम विभाजन से वैयक्तिकता का पोषण हुआ है। विभिन्न अंशों में विभाजित करके सत्य का उद्घाटन हास्यास्पद सिद्ध होता है। इसीलिए मनोविज्ञान का प्रायोगिक पक्ष स्वीकार करते हुए कुछ विद्वानों ने "प्रायोगिक मनोविज्ञानवादी प्रविधि" का प्रचार किया है। फ्रायड जीवन के भावात्मक पक्ष के प्रति न्याय नहीं कर सका था। वह केवल पलायन और विरेचन पर ही बल देता रहा, केवल तृप्ति और रेचन को ही समझता रहा, जीवन की मूलभूत

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वातावरण-संगति के द्वन्द्व को नहीं पहचान सका था। प्रायोगिक मनोविज्ञान इस प्रकार के अन्तर्मुख मनोविश्लेषणवाद को समाप्त करने के लिए ही विकसित हुआ। "फैकनर" नामक विद्वान ने प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र का प्रवर्तन किया। मैडोना के चित्रों की प्रदर्शनी करके उसने प्रत्येक दर्शक से प्रतिक्रिया जाननी चाही। कहा जाता है कि 11000 दर्शकों में से केवल 113 ने ही अपनी प्रतिक्रियाएँ लिखने का उत्साह दिखाया। इन प्रतिक्रियाओं में भी फैकनर की प्रश्नावली की उपेक्षा कर दी गई थी। उनमें जो कला-विवेचक थे उनकी प्रतिक्रियाओं में पूर्वाग्रहों की प्रधानता मिली। वस्तुतः यह एक प्रयोग था, जो रचनाकार और रचना के अन्तर्मुख मनोविश्लेषण से सम्बन्धित न होकर रचनाकार और रचना के बाह्य प्रभावों से जुड़ा था। इस प्रकार के प्रयोग में पाठक और दर्शक का मनोविज्ञान प्रभावी रहा। आजकल शोध की यह मनोवैज्ञानिक प्रयोग-प्रविधि ही अधिक प्रचलित हो रही है, जिसका एक सिरा यदि कृति और कृतिकार से जुड़ा है, तो दूसरा सिरा समाज से गहन-गंभीर सम्बन्ध रखता है। अतः साहित्य के अनुसंधान में प्रायोगिक मनोविज्ञानवादी प्रविधि प्रभाव, व्यापकता आदि के अनुशीलन में बहुत सहायक हो सकती है।

6. समाजशास्त्रीय शोध-प्रविधि

प्रायोगिक मनोविज्ञानवादी शोध-प्रविधि का एक सिरा समाजशास्त्रीय शोध-प्रविधि से जुड़ा है। कोई भी रचना वैयक्तिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहती, उसका सम्बन्ध अनिवार्यतः समाज से रहता है। अतः कुछ वर्षों से अनुसंधान के क्षेत्र में इस पद्धति का प्रयोग अधिक होने लगा है। किसी भी रचना का मूल्य अब इस बात पर निर्भर नहीं रहा कि उसमें कौन-सा रस-प्रधान है तथा उसकी शैली कैसी है। समाजशास्त्रीय शोध-प्रविधि के पक्षधर शोधकर्त्ता यह मानते हैं कि प्रत्येक रचना का समाज से क्या सम्बन्ध है तथा समाज पर उसका क्या प्रभाव पड़ने वाला है ? कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ज्ञान एक निरपेक्ष क्रिया नहीं है। उसके साथ स्थिति भी सम्बद्ध है। हर प्रकार का चिन्तन तब तक कोई अर्थ नहीं रखता, जब तक परिस्थिति के साथ उसकी संगति न समझी जाए। किसी भी कलाकृति की सर्जना किसी-न-किसी विशेष परिस्थिति में होती है। उस संदर्भ को सही-सही समझे बिना अनुसंधानकर्त्ता सत्य के निकट भी नहीं पहुँच सकता, सत्य को पाने की बात तो दूर है। चाहे विषय-सामग्री का अन्वेषण किया जाए, चाहे रूप, भाषा, अनुभव आदि का— वह संदर्भपरक ही होगा, व्यक्ति-परक नहीं हो सकता। कोई भी प्रवृत्ति अपने ऐतिहासिक विकास में संदर्भ-विशेष से ही जुड़ी होती है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध समझना अत्यावश्यक है जिसके लिए समाजशास्त्रीय शोध-प्रविधि का प्रयोग किया जाता है। किन्तु अभी तक हिन्दी साहित्य में जिन शोधकर्त्ताओं ने इस प्रविधि का प्रयोग किया है, उनमें अधिकांश ऐसे हैं, जो विवरणात्मक दृष्टि अपनाते रहे हैं। यदि इस शोध-प्रविधि का सही प्रयोग किया जाए, तो केवल पाश्चात्य साहित्य की असंगतियों का ही उद्घाटन नहीं होगा, बल्कि प्राच्य देशों के साहित्य की असंगतियाँ भी प्रकाश में आ सकती हैं।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

7. विविध ज्ञानात्मक शोध-प्रविधि

शोध की पूर्वोक्त प्रविधियाँ किसी-न-किसी रूप में त्रुटिपूर्ण हैं। कोई भी प्रविधि सर्वांशतः सत्य की सीमा पर नहीं पहुँचाती। इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि शोध की प्रविधि विविध ज्ञानात्मक होनी चाहिए। जिस विषय का अनुशीलन करना हो, उसको समाजशास्त्रीय मनोवैज्ञानिक प्रयोग, मनोविश्लेषण आदि दृष्टियों से तो देखना ही चाहिए, साथ ही अन्य ज्ञान-दृष्टियों की भी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। जीवन अनेक समस्याओं से ग्रस्त है, अतः हमारा साहित्य तथा कलाएँ उनसे मुक्त कैसे हो सकती हैं ? शोधकर्त्ता को चाहिए कि उन समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित कर शोध की विविध ज्ञानात्मक दृष्टि से उनका अध्ययन करे, तभी एकांगी अनुशीलन की प्रवृत्ति समाप्त हो सकती है। इस प्रविधि के समर्थक विद्वान् यह मानते हैं कि इसी पद्धति से शोध का गुणात्मक विकास संभव है।

(ब) साहित्यिक शैली-प्रविधि

साहित्यिक कृति का अनुसंधान साहत्यिक शैली की प्रविधि से ही संभव है। प्राकृतिक विज्ञानों के समान साहित्य का अनुशीलन गणित या सांख्यिकी विधि के प्रयोग से नहीं हो सकता। साहित्यिक कृति को समझने के लिए व्याख्यात्मक शैली अपनानी पड़ती है। भावों को समझाने के लिए दो और दो चार का गणित काम नहीं आ सकता। अतः साहित्यिक शोध के लिए साहित्यिक शैली-प्रविधि का प्रयोग ही उचित होता है।

1. धारणात्मक शैली-प्रविधि

इस पद्धति में अनुसंधान के लिए धारणा-परक विवेचन का रूप अपनाया जाता है। शोधकर्त्ता कुछ धारणाएँ निश्चित करके उनके अनुसार प्रश्नावली चुनता है और कृति या पाठक से उनके उत्तर प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह निर्धारित धारणाओं से उत्पन्न समस्याओं के समाधान खोजता है।

2. वैज्ञानिक शैली प्रविधि

इस शैली का प्रयोग वैज्ञानिक विषयों में ही संभव है, जहाँ भाँति-भाँति के रासायनिक प्रयोग करके परिणाम देखे जाते हैं। साहित्यिक एवं कलात्मक विषयों में इस प्रविधि के प्रयोग का अर्थ यही है कि शोधकर्त्ता की परिकल्पना पूर्णतः वस्तुगत हो तथा वह ऐसी प्रश्नावली का सहारा ले, जिससे अधिकाधिक सत्य का उद्‌घाटन हो सके। समाजशास्त्रीय विषयों में इस प्रविधि का प्रयोग प्रश्नावली के आधार पर किये गये नमूनों के सर्वेक्षणों से किया जाता है।

3. प्रयोगात्मक शैली-प्रविधि

इस शोध-प्रविधि का प्रयोग सामाजिक विज्ञानों में अधिक सार्थक होता है। विज्ञान के विषयों में प्रयोग की पद्धति सर्वाधिक सार्थक सिद्ध होती है। साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति होता है, अतः उसका अनुसंधान इस प्रविधि से अधिक नहीं हो सकता। किन्तु

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह भी कम सत्य नहीं कि जीवन को समझने के जो मापदण्ड हैं, वे साहित्य को समझने में भी सहायक हो सकते हैं। इन सभी मापदण्डों में प्रयोगात्मक शैली की प्रविधि अपनाई जानी चाहिए। शोधार्थी साहित्यिक या कलात्मक रचना के सम्बन्ध में पाठकों पर प्रयोग कर सकता है। किसी कविता के प्रभावों का आकलन पाठक के हाव-भाव का अवलोकन करके किया जा सकता है। एक ही रचना यदि अनेक व्यक्तियों को पढ़ने को दी जाए या उन्हें सुनाई जाए तो उसके अलग-अलग प्रभाव हो सकते हैं। साधारणीकरण की स्थिति अब सर्वमान्य नहीं रही। किसी चलचित्र को देखते समय दुखान्त स्थिति में कुछ दर्शक आँसू बहाते हैं, कुछ हँसते हैं और कुछ व्यंग्य कसते हुए चिल्लाते भी हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि किसी कलात्मक रचना का अनिवार्यतः साधारणीकरण होता ही है। ऐसी स्थिति में शोधकर्त्ता के प्रयोगगत आँकड़े करके ही सत्य तक पहुँचने का मार्ग मिल सकता है। किन्तु यह एक कठिन कार्य है। इसलिए इस प्रविधि का प्रयोग लेखन-शैली तक ही सीमित रह गया है।

निष्कर्ष

अनुसंधान की प्रविधि शुद्ध सत्य की उपलब्धि का मार्ग है। अतः जितनी प्रविधियों का आविष्कार हुआ है, उनका उपयोग विषय और उद्देश्य को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। कोई भी अनुसंधान प्रविधि के प्रयोग के बिना सम्पन्न नहीं करना चाहिए अन्यथा उसकी वैज्ञानिकता एवं मौलिकता संदेहास्पद ही रहेगी।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

5

मानविकी विषय और अनुसंधान

मानविकी विषय

आरंभ में अध्ययन की सुविधा के लिए शिक्षा-क्षेत्र में कृषि, विज्ञान, वाणिज्य एवं कला आदि वर्ग बनाये गये थे, इन्हें संकाय कहा जाता है। विज्ञान और वाणिज्य के अन्तर्गत आने वाले विषयों के सम्बन्ध में संकाय की धारणा अधिकांशतः ठीक है, किन्तु "कला" संकाय के सम्बन्ध में यह माना जाता रहा है कि यह संज्ञा उपयुक्त नहीं है, क्योंकि "कला" से एक सीमित अर्थ का ज्ञान होता है। सामान्यतः "कला" शब्दचित्र, संगीत, नृत्य आदि के अर्थ में प्रचलित है। जबकि कला-संकाय में सम्मिलित विषयों का क्षेत्र इससे आगे जाता है। इसीलिए पुनर्विचार के पश्चात् यह मान्यता बनी कि जिन विषयों को कला संकाय में लिया जाता है, उनके लिए "मानविकी" शब्द अधिक उपयुक्त है। इसी मान्यता के आधार पर सभी विश्वविद्यालयों में "मानविकी" शब्द कला संकाय के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

मानविकी संकाय में उन विषयों को स्थान दिया गया है जिनकी प्रवृत्ति कलात्मक है। इनमें सभी भाषाओं के साहित्यों को प्रमुख रूप से सम्मिलित किया गया है। किन्तु चित्रकला, संगीत, कला, इतिहास तथा दर्शनशास्त्र को भी मानविकी विषय ही माना जाता है क्योंकि इनका सम्बन्ध मनुष्य की परिस्कारात्मक, चिन्तनात्मक एवं आकलनात्मक प्रवृत्तियों के कलात्मक उपयोग से अधिक है।

मानविकी विषयों का परस्पर सम्बन्ध

विविध भाषाओं के साहित्यों में रचनात्मक प्रवृत्ति समान रहती है। अतः शोध के क्षेत्र में उनको समान स्थान मिलता है। चित्रकला और संगीत कला की प्रवृत्तियाँ साहित्य से कुछ भिन्न हैं। इन कलाओं की अभिव्यक्ति साहित्य से केवल इस अर्थ में जुड़ी है कि दोनों का मूल स्रोत मनुष्य की भावना और कल्पना में निहित है। किन्तु साहित्यिक शब्द और अर्थ के माध्यम से अभिव्यक्त होता है, जबकि चित्रकला रंगों और फलक का सहारा

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लेती है। यह अवश्य सत्य है कि दोनों में मानस-बिम्ब समान रूप से स्थान पाते हैं। संगीत में साहित्य की शब्दार्थ-शक्ति एवं लय काम करती है। किन्तु दर्शन में चिन्तन-पक्ष प्रधान होकर कल्पना एक सिद्धान्त का रूप ग्रहण करती है। कल्पना-तत्त्व इतिहास में भी पाया जाता है, किन्तु उसका अतिरेक वर्जित रहता है।

साहित्य, ललित-कलाएँ (चित्र, संगीत, नृत्य आदि), इतिहास तथा दर्शन का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। साहित्य मानव के भावों, अनुभवों और विचारों की कल्पना-परिपुष्ट अभिव्यक्ति है। यह सामग्री विभिन्न कलाओं, दर्शन तथा इतिहास से आती है। समाज में जो कुछ घटित होता है वह साहित्य और इतिहास दोनों का विषय बनता है। प्रकृति का भी इन सभी विषयों से गहरा सम्बन्ध रहता है। विभिन्न कलाओं में कलाकार की अनुभूतियाँ अभिव्यक्ति पाती हैं और साहित्य में भी ये अनुभूतियाँ समाज में घटित जीवन का ही प्रतिबिम्ब होती हैं। इन्हीं से हमारे चिन्तन का विस्तार होता है और इन्हीं से दर्शनशास्त्र विकास-यात्रा पूरी करता है। अनुभव ही चिन्तन का प्रेरक और पुष्टिकर्त्ता है तथा चिन्तन ही दर्शनशास्त्र की आधारशिला है। साहित्य तथा कलाएँ भी दार्शनिक विचारों को अपने मूल में जन्म देती हैं। इतिहास उन सब का संचय करता है। केवल राजाओं-महाराजाओं के जीवन-वृत्त संचित करना ही इतिहास का काम नहीं है, उसे मनुष्य की सांस्कृतिक यात्रा का पूरा विकास भी प्रस्तुत करना होता है तथा उसकी सुरक्षा भी करनी पड़ती है। अतः साहित्य, इतिहास, दर्शन तथा विभिन्न कलाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं। मानविकी क्षेत्र के ये विषय मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं तथा उसके लिए श्रेष्ठ जीवन की भूमिका प्रस्तुत करते हैं।

साहित्य एक व्यापक शब्द है। इस शब्द की अर्थ-व्याप्ति अनेक रूपात्मक है। सामान्य भाषा में हर प्रकाशित कृति को साहित्य कहा जाता है। किन्तु काव्य, कथा, नाटक आदि के अर्थ में साहित्य का सीमित अर्थ ही ग्रहण किया जाता है। इसी अर्थ में हमारा प्रस्तुत अध्ययन सीमित है। इस अर्थ में साहित्य की आधारगत त्रिवेणी इतिहास, दर्शन एवं कला ही है। साहित्य में घटनाओं को स्थान मिलता है। घटनाएँ भूत या वर्तमान का इतिहास होती हैं; कभी कभी तो प्रत्यक्षतः ऐतिहासिक घटनाओं पर ही, उपन्यास, नाटक, काव्य आदि लिखे जाते हैं। इतिहास भी विभिन्न घटनाओं को प्रस्तुत करते समय जीवन के मर्म तक जाता है। उसमें किसी घटना-विशेष के पीछे छिपे मानवीय व्यवहारों की भी समीक्षा रहती है। अतः साहित्य और इतिहास की विषयगत ही नहीं, विवेचनगत प्रवृत्ति में भी कई तत्त्व समान होते हैं। जहाँ तक अभिव्यक्ति-पक्ष का प्रश्न है, साहित्य से इतिहास भिन्न शैली अपनाता है। वह सत्य की ओर अधिक मुड़ता है, जबकि साहित्य सत्य की संभावनाओं का भी पता लगाता है, इसलिए उसके आधार में निहित होकर कल्पना अभिव्यक्ति की शैली बदल देती है।

दर्शनशास्त्र में जीवन जगत् और ईश्वर-सम्बन्धी जो चिन्तन रहता है, वह मनुष्य-जीवन की घटनाओं की प्रेरणा से ही आता है। मनुष्य सुख-दुःख की विभिन्न

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनुभूतियाँ समेट कर जब चिन्तन-केन्द्र पर अपने मन को स्थिर करता है, तब दर्शन का जन्म होता है। अतः यह समझ लेना चाहिए कि मनुष्य की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ ही दर्शन की विभिन्न विचार-धाराओं में अजस्र रूप से प्रवाहित रहती हैं। इसके विपरीत साहित्यकार जब अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देता है, तब उसके विचार ही नहीं, दार्शनिकों के विचार भी उसकी भाव-भूमि के मूल में व्याप्त हो जाते हैं। किसी भी देश के साहित्य को लें, हम पाएँगे कि उसकी अभिव्यक्ति का विराट् पटल किसी-न-किसी दार्शनिक तत्त्व से ही परिपुष्ट हुआ है। अतः साहित्य से दर्शन को उसी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता, जिस प्रकार जीवित रहना है तो प्राण और शरीर की अभिन्नता को नहीं तोड़ा जा सकता। जो साहित्य जितना अधिक श्रेष्ठ होता है, उतना ही उसका दर्शन से अधिक सम्बन्ध होता है। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि पूर्व निष्पादित दार्शनिक तथ्य तो साहित्य में आकर उसका निर्माण करते ही हैं, साहित्य भी नई अनुभूतियों से रस देकर नये दार्शनिक तथ्यों को जन्म देता है। इस प्रकार साहित्य और दर्शन परस्पर एक-दूसरे के पोषक और विकासकर्त्ता हैं। यही कारण है कि श्रेष्ठ साहित्यकार वही हो सकता है, जो एक गंभीर दार्शनिक प्रवृत्ति का व्यक्ति हो, तथा श्रेष्ठ दार्शनिक भी वही हो सकता है, जो साहित्यिक मनोवृत्ति का व्यक्ति हो, जिसने अनुभूतियों में रमण की शक्ति तथा कल्पना के अन्तर्चक्षु प्राप्त किये हों। विश्व के सभी महान् साहित्यकारों के साहित्य को देख लीजिए, वे श्रेष्ठ मानव-दर्शन के प्रसारक रहे हैं तथा महान् दार्शनिकों ने सदा महान् अनुभूतियों को रूपायित किया है।

मानविकी विषयों में शोध

मानविकी की सीमा में आने वाले जिन विषयों की पीछे चर्चा की गई है, उनमें शोध की दृष्टि से भी बहुत समानता है। साहित्य, इतिहास, दर्शन, चित्रकला, संगीत-कला आदि के क्षेत्रों में सामग्री के लिए अतीत और वर्तमान दोनों पर निर्भर रहना पड़ता है। इन विषयों में हमारी शोध-यात्रा प्रयोग या सर्वेक्षण के आधार पर नहीं हो सकती, जिस प्रकार विज्ञान या समाजशास्त्र के विषयों में होती है। विज्ञान में प्रयोगशाला आवश्यक होती है और उसमें परीक्षण पुनरीक्षण तथा बार-बार प्रयोग की पद्धति अपनाई जाती है। समाजशास्त्रीय या सामाजिक विज्ञानों में भी पूरा समाज एक प्रयोगशाला बन जाता है। उसमें विभिन्न नमूने, मत, कथन, विचार, प्रमाण आदि लोक-जीवन से ग्रहण किये जाते हैं जिसके लिए विशेष प्रश्नावली आदि का सहारा लिया जाता है। अनुशीलन करते समय आँकड़े निकालने तथा उनसे किन्हीं तथ्यों तक पहुँचने की चेष्टा की जाती है। मानविकी विषयों में शोध की दिशाएँ और पद्धतियाँ इनसे भिन्न रहती हैं। साहित्य के क्षेत्र में शोधकर्त्ता को शब्द और अर्थ के भाषा-जगत् में विचरण करना पड़ता है तथा विभिन्न सन्दर्भों के सहारे मौलिक व्याख्याएँ करके निष्कर्ष निकालने पड़ते हैं। इन निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए लिखित या मुद्रित शब्द-सामग्री ही काम आती है। इतिहास सम्बन्धी शोध के लिए भी

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साहित्यिक ग्रन्थों के साथ-साथ अन्य विषयों के ग्रन्थ भी आधार बनते हैं और इस प्रकार शब्दार्थ-सामग्री ही काम आती है। यही स्थिति दर्शनशास्त्र की भी है। इन विषयों में आँकड़ा पद्धति या प्रयोग प्रक्रिया काम नहीं आती। चित्रकला में शब्द नहीं बोलते, रंग और फलक बोलते हैं। उसमें भी प्रयोग नहीं होता, केवल अभ्यास की आवश्यकता होती है। संगीत कला में शब्द और स्वर की प्रमुखता रहती है, उसका भी लिखित साहित्य होता है। अतः इन विषयों में शोध की पद्धति अधिकांशतः समान होती है।

विज्ञान के शोध-परिणाम भी मानविकी के शोध परिणामों से भिन्न प्रकार के होते हैं तथा उनका उद्देश्य भी भिन्न होता है। विज्ञान प्रधानतः नये आविष्कार को शोध का फल मानता है, जबकि मानविकी के क्षेत्र में शोध का लक्ष्य जीवन के सत्य, शिव तथा सौन्दर्य को उद्घाटित करना तथा उनसे सुख-पूर्ण जीवन की आधारशिला रखना होता है। समाजशास्त्रीय विषय कुछ सिद्धान्तों का नवीन उद्घाटन तथा उनका नवीन सिद्धान्त-निरूपण में योग तक विस्तृत एक व्यापक जीवन-दृष्टि को पुष्ट करते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानविकी के क्षेत्र में शोध का बड़ा महत्त्व है। इस शोध के द्वारा ही मानव की क्रमशः विकसित संस्कृति का स्वरूप उद्घाटित होता है। अस्थि-पंजर का मनुष्य शरीर-त्याग के पश्चात् भी अपने अनुभवों, विचारों, कल्पनाओं, भावनाओं आदि के रूप में हजारों वर्षों तक जीवित रहता है। यदि कोई मनुष्य अक्षर-ज्ञान से शून्य होता है, तो वह भी अपने पीछे अपने अनुभवों आदि का एक विस्तृत जगत् छोड़ जाता है। वह भले ही अपनी भावनाएँ लिखित रूप में व्यक्त न कर सके, लिखने, सुनने और स्मरण कर सुरक्षित रखने वाले व्यक्तियों के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री छोड़ जाता है। यह सामग्री कभी लोक-साहित्य में काम आती है, कभी किसी कवि की वाणी का आश्रय पाकर शिष्ट साहित्य बनती है, कभी किसी कला का रूप ग्रहण करती है, कभी इतिहास के पन्नों में काम आती है और कभी किसी दर्शन को परिपुष्ट करती है। शोधकर्त्ता को इसी महत्त्वपूर्ण सामग्री के आधार पर नये निष्कर्षों तक पहुँचना होता है।

यदि मनुष्य की हजारों वर्ष प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का विकास करना है, पुरातन के दोषों को त्यागना है और नवीन की अच्छाइयाँ ग्रहण करनी हैं, तो हमें शोध का सहारा लेकर उसके इतिहास और दर्शन का समय-समय पर मूल्यांकन करते रहना चाहिए। यह कार्य सरल नहीं होता। शोधकर्त्ता को किसी भी एक मानविकी विषय के ज्ञान के आधार पर अपनी यात्रा प्रारम्भ नहीं कर देनी चाहिए। चाहे इतिहास की शोध की जाए, चाहे दर्शन की, शोधक को उससे सम्बन्धित समाज के साहित्य का एक बार अवलोकन अवश्य करना पड़ता है। किसी भी इतिहास के पीछे एक समाज होता है। उसकी भावनाओं और आकांक्षाओं से ही इतिहास की घटनाएँ जन्म लेती हैं। यही स्थिति दर्शनशास्त्र की भी है। प्रत्येक शोधकर्त्ता को दार्शनिक तथ्यों के निष्पादन के लिए साहित्य में या अन्य कलाओं में अभिव्यक्त भावनाओं और विचारों का मूल्यांकन करना पड़ता है।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चित्रकला, संगीतकला और नृत्यकला का सम्बन्ध जितना बाह्य प्रकृति से है, उतना ही मनुष्य की अन्तःप्रकृति से भी होता है। ये कलाएँ अपनी प्रकृति के अनुसार जीवन से भावनाओं, आकाँक्षाओं आदि का संचय करती हैं और रंग, स्वर या गति के माध्यम से अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति पाती हैं। अतः इन मानविकी विषयों में भी शोध की सूक्ष्म भावपरक वही दृष्टि अपनानी होती है, जो साहित्य में अपनाई जाती है, केवल अध्ययन की शैली में कुछ अन्तर आ जाता है।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि मानविकी विषयों का सीधा सम्बन्ध मनुष्य-जीवन की घटनाओं, परिस्थितियों, वातावरण और उनसे उत्पन्न विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों तथा संस्कारों से होता है। ये सभी विषय मनुष्य के अतीत और वर्तमान जीवन का दर्पण होते हैं तथा भविष्य की संभावनाएँ भी प्रस्तुत करते हैं। अतः इन विषयों में शोध के लिए शोधकर्त्ता को मानव-जीवन की संस्कारगत गहराइयों में उतर कर सत्य, शिव और सौन्दर्य के रचनात्मक पक्ष का उद्‌घाटन करना पड़ता है।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

6

मानविकी अनुसंधान की वैज्ञानिक पद्धति

प्रसिद्ध विद्वान स्टुअर्ट के मतानुसार विज्ञान शोध की पद्धति में निहित है, विषय-वस्तु में नहीं। इस मान्यता के अनुसार किसी भी शोध विषय में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। हम अध्ययन के लिए कोई भी विषय चुन सकते हैं, किन्तु उसके अध्ययन की पद्धति वैज्ञानिक ही होनी चाहिए।

आजकल विश्वविद्यालयों में जो अनुसंधान-कार्य सम्पन्न होता है, उसमें मानविकी विषयों में प्रायः वैज्ञानिक पद्धति की उपेक्षा कर दी जाती है। इसका कारण यह होता है कि अधिकांश शोधार्थियों को वैज्ञानिक पद्धति का न तो पूर्वज्ञान होता है, न उन्हें इस सम्बन्ध में कोई प्रशिक्षण ही दिया जाता है। कई शोध-निर्देशक भी वैज्ञानिक शोध-प्रक्रिया से परिचित नहीं होते। परिणामतः साहित्यिक विषयों में मात्र आलोचनात्मक आलेख प्रस्तुत कर दिये जाते हैं और इतिहास, दर्शन आदि में केवल विवरणात्मक सामग्री सामने आती है। इस स्थिति में शोध का उद्देश्य पीछे छूट जाता है तथा उसका स्तर भी दिनोंदिन गिरता चला जाता है।

वस्तुतः शोध के कई रूप हैं। कभी-कभी केवल उद्देश्यहीन निरीक्षण एवं जिज्ञासा से भी उच्चकोटि के शोध का परिणाम सामने आता है। उदाहरणार्थ, विज्ञान के क्षेत्र में न्यूटन को पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का बोध उद्देश्यहीन किन्तु जिज्ञासापूर्ण निरीक्षण से हुआ था। जब उसने वृक्ष से "सेब" फल नीचे गिरता देखा तथा अन्य पदार्थ भी ऊपर फैंकने पर नीचे गिरते देखे, तो उसके मस्तिष्क में यह विचार उत्पन्न हुआ कि निश्चय ही पृथ्वी की कोई शक्ति ऊपर जाने वाले सभी पदार्थों को नीचे खींच रही है। बस, इसी निरीक्षण का फल हुआ "पृथ्वी" की गुरुत्वाकर्षण की शक्ति का परिज्ञान।

सोद्देश्य शोध के लिए विषय का चयन तो आवश्यक होता ही है, साथ ही उस विषय की विशिष्ट परिकल्पना का चयन भी, जो नहीं करता तो उसका शोध-कार्य दिशाहीन हो जाता है और वह अन्धकार में तीर मारता रहता है। प्रायः यह कहा जा सकता है कि

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आरंभ में ही कोई परिकल्पना अर्थात् "सिनाप्सिस" बना लेने से शोध की संभावनाएँ ही समाप्त हो जाती हैं। किन्तु यह कथन अधिक तर्कसंगत नहीं है। वस्तुतः विषय-निर्धारण के पश्चात् परिकल्पना से एक दिशा निर्धारित तो हो जाती है, किन्तु उसमें संशोधन-परिवर्द्धन का मार्ग रुद्ध नहीं होता। शोधार्थी का अध्ययन ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है, त्यो-त्यों वह अपनी परिकल्पना में भी उपेक्षित परिवर्तन करते रहने के लिए स्वतन्त्र होता है। यह परिवर्तन परिकल्पना के मूल ढाँचे को नष्ट नहीं करता, बल्कि उपयोगी बनाता है।

परिकल्पना में परिवर्तन-परिवर्द्धन के लिए शोधकर्त्ता व्यवस्थित ढंग से तर्कपूर्वक अपने विषय का अनुसंधान करता है। ज्ञान-प्राप्ति की आकाँक्षा बढ़ती जाती है तथा अपना अध्ययन भी उसे रुचिकर लगने लगता है। उसके सामने एक परिकल्पना होती है और उसे अपनी मंजिल का भी ध्यान रहता है जिससे वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए निरंतर उत्साही बना रहता है।

शोधार्थी के सामने जो सामग्री होती है, उसका वह वैज्ञानिक ढंग से परीक्षण करता है तो उसे सही निष्कर्षों तक पहुँचने में सुविधा होती है। प्रसिद्ध विद्वान जॉर्ज बर्ग के अनुसार वैज्ञानिक पद्धति के लिए "वैज्ञानिक निरीक्षण, विभाजन और तथ्यों की व्याख्या" परमावश्यक है। यहाँ वैज्ञानिक निरीक्षण शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। हम सहज रूप में जो कुछ देखते हैं, वह वैज्ञानिक निरीक्षण से भिन्न है। जब हम किसी वस्तु पर विशेष उद्देश्य से दृष्टि डालते हैं, तब उसे वैज्ञानिक निरीक्षण कहा जाता है। इस निरीक्षण के बाद हम उस वस्तु का वैज्ञानिक ढंग से विभाजन भी करते हैं। इस विभाजन से वस्तु के अंग-प्रत्यंग का पृथक् ज्ञान सुलभ हो जाता है। पृथक् किए हुए तत्त्वों की वैज्ञानिक ढंग से सप्रमाण व्याख्या आवश्यक होती है। इस व्याख्या से विषय के आन्तरिक रहस्यों का समझना सरल हो जाता है तथा शोधकर्त्ता को भी अपने बढ़ते हुए ज्ञान के चमत्कार पर हर्षातिरेक का अनुभव होने लगता है। शोधकर्त्ता अपने तथा पूर्व शोधकर्त्ताओं के ज्ञान के आधार पर अपने ज्ञान का परिमार्जन भी करता जाता है तथा ज्ञान की सीमाएँ स्वतः विकसित होती जाती हैं।

शोध की इस प्रक्रिया में जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बातें ध्यान में रखनी होती हैं, वे हैं— विषय का सही निर्वाचन तथा सोच-समझ कर बनाई गई परिकल्पना। कई बार शोधार्थी शीघ्रतावश विषय का चयन कर लेता है और अपना अध्ययन पर्याप्त आगे बढ़ा चुकने पर उसे ज्ञात होता है कि उस विषय पर पहले ही शोध कार्य हो चुका है। ऐसी स्थिति में उसके सामने एक ही विकल्प रह जाता है कि वह पूर्ववर्ती शोध कार्य का पुनराख्यान करे। फलतः विवश होकर उसे अपनी परिकल्पना को नया रूप देना पड़ता है तथा पूर्व में किया हुआ उसका अध्ययन भी संशोधन की सीमा में आ जाता है। कुछ शोधार्थी इस बात की चिन्ता नहीं करते कि पूर्ववर्ती कार्य का ही वे विश्लेषण या अन्य प्रकार से पुनः प्रस्तुति क्यों कर रहे हैं ? ऐसी स्थिति में वे शोध के नाम पर पूर्ववर्ती कार्य की नकल प्रस्तुत करके

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शोध-जगत् में अप्रतिष्ठा का विषय बनते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि विषय का चयन करते समय समस्त पूर्ववर्ती अनुसंधान का पता लगा लिया जाये।

एक बार यह निश्चय हो जाने पर कि जो विषय चुना गया है वह पूर्णतः नवीन है। यह भी देखना चाहिए कि उससे समाज या मानव जाति का हित किस सीमा तक होगा। कभी-कभी ऐसे विषय चुन लिये जाते हैं जिनका अब कोई सामाजिक उपयोग तो रह ही नहीं गया है, साथ ही जो समाज, देश या राष्ट्र के हितों के विरुद्ध भी जा रहे हैं। ऐसे विषयों पर की गई शोध निरर्थक तो होती ही है, सामाजिक न्याय के क्षेत्र में हमें अपराधी भी बनाती है।

जब विषय की शुद्धता एवं उपयोगिता निर्विवाद स्थापित हो जाए, तभी हमें उसकी परिकल्पना तैयार करनी चाहिए। इस परिकल्पना में भी ऐसे बिन्दु या प्रश्न उभरने चाहिएँ जो विषय के अन्तर्निहित सत्य को तो प्रकाश में लाएँ, किन्तु मनुष्य, समाज और देश के हितों से न टकराते हों।

परिकल्पना के अनुसार विषय का विभाजन और वर्गीकरण भी सोच-विचार कर करना चाहिए। विभाजन से विषय की मूल शक्ति या उसके स्वरूप का समापन न होने पाये तथा उसके अंग-प्रत्यंग इस ढंग से खुलते जाएँ कि वर्गीकरण करते समय उनमें ऐसा तारतम्य बना रहे जो अनुसंधान को एक समवेत् लक्ष्य पर पहुँचा दे।

वर्गीकरण के बिना वैज्ञानिक शोध सम्भव नहीं है, किन्तु उस वर्गीकरण के अनुसार उचित तर्क-संगत विवेचन भी होना चाहिए। विवेचन कल्पना पर आधारित न होकर, प्रमाण-पुष्ट होना चाहिए। प्रमाण भी ऐसे दिए जाएँ, जो स्वयं शुद्ध हों तथा जिनकी मान्यता असंदिग्ध हो। कई बार देखा जाता है कि कई शोधकर्त्ता कुंजियाँ और नोट्स-लेखकों तक के उद्धरणों को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत कर देते हैं। इतिहासादि में ही नहीं, साहित्यिक विषयों में भी ऐसे प्रमाण देकर शोध की प्रक्रिया पूर्ण मान ली जाती है। देखना यह है कि जो प्रमाण स्वयं ही अशुद्ध और अप्रमाणित है, उसे प्रमाण बनाकर हम किस शुद्ध परिणाम तक पहुँच सकते हैं ?

प्रमाण प्रस्तुत करते समय यह भी देखना आवश्यक होता है कि वे हमारे विवेचन और तर्कों के अनुकूल भी हैं या नहीं ? कभी-कभी एक परम्परा में प्रमाण चलते रहते हैं। एक शोधकर्त्ता जो प्रमाण प्रस्तुत करता है, दूसरा उसके शोध कार्य के आधार पर ही उसे चुन लेता है और मूल स्रोत का निरीक्षण या अध्ययन नहीं करता। यों एक से दूसरे, तीसरे, चौथे तक उद्धृत होता हुआ एक प्रमाण अपनी विश्वसनीयता खो बैठता है और शोधकर्त्ता उसका संदर्भ भी सही-सही नहीं जान पाता तथा उसे अपने मौलिक अध्ययन का परिणाम बताने की भूल कर बैठता है। अधिकांश शोध कार्य इसीलिए केवल "उपाधि" प्राप्त कराने तक समित रह जाते हैं और उनके लिए परिश्रम करना-न-करना बराबर हो जाता है। आज विश्वविद्यालयों की यही स्थिति हो रही है। अधिकांश ऐसे शोधग्रन्थ मिलते हैं जो पुस्तकालयों की रद्दी बढ़ाने के अलावा कोई उद्देश्यपूर्ण कार्य नहीं करते।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वैज्ञानिक शोध पद्धति से किया गया शोध कार्य सदा किसी-न-किसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है। अतः शोध का क्रम तभी सार्थक होता है जब किसी फल तक अध्ययन पहुँचे। कई शोधकर्त्ता मात्र विवेचन करके विषय का अध्ययन पूर्ण माने लेते हैं, जबकि उन्हें अपने विवेचन के परिणामों को भी क्रमबद्ध ढंग से प्रस्तुत करना चाहिए। वैज्ञानिक शोध पद्धति से किये गये शोध का कार्य अन्तिम पड़ाव है। जब हमारा विवेचन स्वतः कुछ निष्कर्षों को निष्पादित करने लगे तब हमें समझना चाहिए कि हमने शोध कार्य में पूर्णता की ओर चरण रखा है।

अतः निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि शोध-कार्य आरंभ करने से पूर्व हम उसका उद्देश्य निर्धारित करें, तदनुसार विषय का चयन हो और बहुत सोच-समझ कर उसकी परिकल्पना तैयार की जाये। उस परिकल्पना के अनुसार विषय का विभाजन व वर्गीकरण किया जाये। तदुपरान्त विषय की गंभीर व्याख्या एवं सप्रमाण तर्क-पुष्ट विवेचन करके मौलिक निष्कर्ष निकाले जाएँ, साथ ही इन समस्त अध्ययन स्तरों पर इस बात का बराबर ध्यान रहे कि हमारा शोध कार्य किसी भी सीमा तक व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के हितों का विरोधी न होकर केवल जनहित का निष्पादन करने वाला सिद्ध हो।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

7

इतिहास की अनुसंधान-प्रविधि

"इतिहास" शब्द बहुत विस्तृत अर्थ रखता है। किसी भी विषय-ज्ञान, विज्ञान साहित्य कला का अपना अलग इतिहास हो सकता है। होता भी है। किन्तु यहाँ हम सीमित अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, यहाँ इतिहास से हमारा तात्पर्य किसी देश के इतिहास से है। जहाँ यह अर्थ सीमित है, वहाँ इसकी व्यापकता भी बहुत है। किसी देश का इतिहास केवल राजा-महाराजाओं या शासन का इतिहास ही नहीं होता एवं उसमें विभिन्न राज्यों के उत्थान-पतन या पारस्परिक युद्धों का ही वर्णन नहीं होता, बल्कि उस देश की विभिन्न जातियों के उत्थान-पतन की विस्तृत व्याख्या भी उसमें होती है। किसी भी राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति का वह दर्पण होता है। अतः इतिहास के इस सीमित किन्तु व्यापक अर्थ को समझने के पश्चात् ही उसके किसी पक्ष को शोध का विषय बनाया जा सकता है।

वस्तुतः मानव-सभ्यता का सम्पूर्ण ज्ञान पाने का एकमात्र साधन इतिहास ही होता है। अतः इतिहास लिखना और समझना दोनों ही जटिल कार्य है। मनुष्य स्वयं भी एक अत्यन्त जटिल जीवन वाला प्राणी है। उसके कार्यकलाप ऐसी-ऐसी विभिन्न घटनाओं को जन्म देते हैं जिनकी कोई कल्पना नहीं कर सकता। वह एक क्षण कुछ होता है और दूसरे क्षण कुछ हो जाता है। वह कभी रूढ़ियों का समर्थन करता है और कभी उन्हें तोड़ता है। वह क्रोध में आकर युद्धों का जनक बनता है और प्रेम तथा दया से ओत-प्रोत होने पर शान्ति की बात करता है। शासन चलाना राजनीति हो सकती है, किन्तु राजनीति से प्रमाणित करके परिवर्तन लाना तथा समस्त समाज को नई परिस्थितियों में पहुँचा देना उसका ऐसा कार्य होता है, जो नये इतिहास को जन्म देता है। समाज बदलते हैं, सत्ता-परिवर्तन होते हैं, सांस्कृतिक और धार्मिक उथल-पुथल मचती है, किन्तु सब बातों के पीछे ऐतिहासिक कारण छिपे रहते हैं। इतिहास ही उन सब घटनाओं और परिवर्तनों का आकलन करता है। ऐसे गंभीर विषय का शोध-कार्य भी सरल नहीं होता। विज्ञान के विषयों में प्रयोग आदि के

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

द्वारा कुछ निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है, किन्तु इतिहास में प्रयोग काम नहीं आते, प्रमाणों के सहारे ही सत्यान्वेषण किया जा सकता है।

भारत में इतिहास की स्थिति

भारत में इतिहास-लेखन की वैसी परम्परा नहीं रही, जैसी पाश्चात्य देशों में मिलती है। यहाँ काव्य, नाटक, पुराण आख्यान आदि के माध्यम से सुरक्षित रखा गया है, अतः उसमें कल्पना का मिश्रण भी हो गया है। किन्तु इतिहास के जिस व्यापक एवं विस्तृत फलक की अवधारणा भारत में इन माध्यमों के द्वारा प्रस्तुत की गई है, वैसी बहुत कम देशों में उपलब्ध है। साहित्य की विभिन्न शैलियों में जो इतिहास प्रस्तुत किया गया है, उसमें काल-विशेष का सर्वांगीण जीवन अपने समस्त रंगों में उद्भासित हो उठा है। शासन, समाज, संस्कृति और सभ्यता के अत्यन्त जीवन्त चित्र इस इतिहास में मिलते हैं। धर्म-प्रधान देश होने के कारण विभिन्न धार्मिक आचारों में भी इतिहास के तत्त्व छिपे मिलते हैं। साहित्य के अतिरिक्त विभिन्न ललितकलाओं के माध्यम से भी भारत का प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास प्रस्तुत हुआ है। गुफाओं, भित्तियों, शिलाखण्डों, स्मारकों, पहाड़ियों आदि पर इतिहास की अनेक घटनाएँ विभिन्न रूपों में अंकित की गई हैं। देश की संस्कृति के अनेक अध्ययन इन कलाओं के माध्यम से उद्घाटित हुए हैं। इन अध्यायों को अभी तक पूर्णतः प्रकाश में लाने का काम नहीं हो पाया है। अनेक शिलालेख देश के जीते-जागते इतिहास की धरोहर बने अब भी शोधार्थियों की प्रतीक्षा में आँसू बहा रहे हैं और धीरे-धीरे अपने अस्तित्व को नष्ट होते देख रहे हैं। पुराने शासकों द्वारा बनाई गई इमारतें, स्मारक, मंदिर आदि या तो खण्डहर होते जा रहे हैं या भू-समाधि लिये पड़े हैं। यही क्यों, बड़े-बड़े प्राचीन नगरों की रंग-बिरंगी सभ्यता भी भू-समाधि के लिए शोधार्थियों की प्रतीक्षा कर रही है। सभय-समय पर भूमि की खुदाई में कहीं कोई मन्दिर मिलता है, कहीं मूर्तियाँ और कहीं बड़े-बड़े भवन, जो देश के प्राचीन इतिहास के अनेक नये अध्याय खोलते हैं। पुराने सिक्के भी निरन्तर मिलते चले जा रहे हैं, जो शासकों और उनके जीवन की घटनाओं पर नवीन प्रकाश डालते हैं।

लिखित सामग्री

लिखित रूप में उपलब्ध सामग्री भी कम नहीं मिलती। प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाली अनेक पाण्डुलिपियाँ अब भी व्यक्तियों, पीठों, भण्डारों, पुराने राव-राजाओं और नवाबों के यहाँ उपलब्ध हैं। शोधकर्त्ताओं ने इस सामग्री को संकलित कराने के लिए अनेक संस्थाओं को अनेक प्रकार का योग दिया है। इन पाण्डुलिपियों को सुरक्षित रखना एक बहुत बड़ी समस्या है। सुरक्षा के उपरान्त इनको पढ़ने और सही अर्थों तक पहुँचने की समस्या सामने आती है। अतः प्रत्येक शोधार्थी को शोध-कार्य आरंभ करने से पूर्व इतिहास सम्बन्धी समस्त लिखित सामग्री को पढ़ सकने की योग्यता अर्जित करनी पड़ती है। किसी एक पाण्डुलिपि के आधार पर ही इतिहास के निर्णय संभव नहीं हो सकते, इसलिए इस बात

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का प्रयास करना होता है कि जो भी लिखित सामग्री मिले, उसका एकाधिक प्रतियों में मिलान किया जाये। इन प्रतियों में लिपि का बहुत अन्तर होता है तथा कभी-कभी कुछ प्रतियाँ खण्डित भी मिलती हैं, कभी-कभी पुरानी प्रतियों में ऐसी प्रतियाँ भी मिलाकर रख दी जाती हैं जिनको किसी व्यक्ति ने बहुत समय पश्चात् लिपिबद्ध किया है। ऐसी पाण्डुलिपियाँ भी मिलती हैं, जिन पर लिपिकाल पुराना डालकर प्राचीनता का भ्रम उत्पन्न किया जाता है। अतः लिखित सामग्री से ऐतिहासिक तथ्यों की उपलब्धि के लिए बहुत परिश्रम, ज्ञान, अभ्यास और विवेक की आवश्यकता होती है।

जहाँ प्राचीन काल के इतिहास से सम्बन्धित सामग्री विभिन्न स्रोतों के आधार पर बहुत बाद में लिपिबद्ध की गई है, वहीं यह समस्या भी है कि मध्यकालीन इतिहास की पर्याप्त सामग्री अरबी-फारसी भाषाओं और लिपियों में है। अतः इतिहासकार को इन भाषाओं का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। जो शोधार्थी मध्यकालीन इतिहास पर शोध करना चाहते हैं, उन्हें तो अरबी-फारसी भाषाओं का अच्छा ज्ञाता होना ही चाहिए, अन्यथा उनका शोध-कार्य पूर्णतः मौलिक एवं प्रामाणिक नहीं हो सकता।

मध्यकालीन इतिहास के तत्कालीन लेखक भी प्रायः विदेशी आक्रान्ताओं के चाटुकार रहे हैं। अतः उन्होंने वही लिखा है कि जो वे आक्रान्ता शासक चाहते थे। ऐसी स्थिति में उनकी लिखित सामग्री पर पूर्णतः विश्वास करके इतिहास का शोध-कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। शोधार्थी को उन इतिहासकारों से प्राप्त सामग्री की भी भली प्रकार छानबीन करनी होती है तथा अन्य उपलब्ध स्रोतों से भी उनका मिलान करना होता है।

पुरालेखागारों की सामग्री

इतिहास-सम्बन्धी शोध के लिए पुरालेखागारों की सामग्री बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित सामग्री तो ऐसे स्थानों पर कम ही मिल सकती है, किन्तु मध्यकालीन एवं स्वतन्त्रता से पूर्व तथा उत्तरकालीन सामग्री तो प्रचुर मात्रा में तथा प्रामाणिक रूप में भी उपलब्ध होती है। इस सामग्री में लिखित आज्ञाएँ, पट्टे-परवाने आदि भी सम्मिलित होते हैं। इन सबकी छानबीन कर शोधार्थी को अपने विषय से सम्बन्धित तथ्य एकत्र करने होते हैं।

पुरा-संग्रहालय

प्राचीन एवं मध्यकाल की अनेक वस्तुओं को सुरक्षित रखने के लिए पुरा-संग्रहालय भी स्थापित किये गये हैं। इन संग्रहालयों की सामग्री इतिहास के शोधार्थी के लिए बहुत उपयोगी होती है। इन संग्रहालयों में प्राचीन लिपियों में उत्खनित शिलालेख भी होते हैं जिनको पढ़ सकने की योग्यता भी शोधार्थी को शोध-कार्य आरम्भ करने से पूर्व अर्जित करनी होती है।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शोध-प्रविधि के सोपान

इतिहास जैसे गम्भीर विषय के शोधार्थी को मौलिक तथ्यों तक पहुँचने के लिए कई सोपानों से गुजरना होता है। टायनबी, वेल्स, टेगर्ट आदि विद्वानों ने यह माना है कि इतिहास कोरी घटनाओं और विशिष्ट व्यक्तियों के कार्य-कलापों का संकलन मात्र नहीं है, बल्कि इस विद्या से सामाजिक जीवन के विकास को समझने में सहायता मिलती है। अतीत की घटनाओं एवं संस्थाओं के क्रम-बद्ध, प्रामाणिक एवं व्यवस्थित वर्णन के माध्यम से सम्पन्न होता है। अतीत से ही वर्तमान की अधिकांश जीवन-पद्धति निर्धारित होती है। अतः इस सोपान पर गंभीर चिंतन एवं विवेक प्रयोग की आवश्यकता बराबर बनी रहती है। किसी भी समाज की वर्तमान सभ्यता एवं संस्कृति के स्रोत अतीत की घटनाओं में निहित रहते हैं। अतः इतिहास-सम्बन्धी शोध का कार्य अतीत को सही तथा निष्पक्ष ढंग से प्रामाणिक आधार पर समझने से ही सम्भव हो सकता है। प्रसिद्ध विद्वान "रेडक्लिफ ब्राउन" के मतानुसार वर्तमान काल में घटित होने वाली घटनाओं को अतीत काल में घटित हुई घटनाओं के क्रमिक विकास की एक कड़ी मानकर ही अध्ययन या शोध का कार्य अग्रसर होता है। प्राचीन आलेख, ग्रन्थ, सिक्के, मूर्तियाँ, शिलालेख, विभिन्न पुरानी गाथाएँ, लोक-कथाएँ आदि का अध्येता को निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ अध्ययन करना पड़ता है। इस कार्य के लिए उसमें अपने विषय-क्षेत्र की पूरी जानकारी रखने की क्षमता एवं सामाजिक अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए। उसमें विश्वसनीय एवं सम्बद्ध तथ्यों का चयन करने का पूर्ण विवेक होना चाहिए। उसे यह भी ज्ञात होना चाहिए कि विषय की सीमा क्या है तथा पूर्वाग्रहों से वह स्वयं कितना दूर है ?

शोधकर्त्ता को इतिहास के क्षेत्र में अनुसंधान के लिए तभी प्रवृत्त होना चाहिए, जब वह अध्ययन की समस्या को सही ढंग से निर्धारित करने में समर्थ हो। अगर समस्या का ठीक निर्धारण नहीं होगा, तो वह सही दिशा में मौलिक अध्ययन नहीं कर सकेगा। समस्या की प्रकृति एवं क्षेत्र से भली प्रकार परिचित हो जाने के पश्चात् ही उसे अपने शोधकार्य में अग्रसर होना चाहिए।

समस्या से सम्बन्धित यत्र-तत्र बिखरी सामग्री का संकलन करना एक आवश्यक कार्य होता है। जब तक प्रामाणिक ढंग से सामग्री एकत्र नहीं की जाती, तब तक अनुसंधान का कार्य आरंभ नहीं मानना चाहिए। यह कार्य सरल नहीं होता। किस सामग्री पर कितना और किन आधारों पर विश्वास किया जाए, यह प्रश्न सदा सामने खड़ा रहता है। जब तक शोधार्थी में एतदर्थ पर्याप्त योग्यता नहीं होगी, सामग्री की विश्वसनीयता के आधारों को पहचानने वाला अनुभव नहीं होगा और वह सदैव दूरदर्शिता से काम नहीं लेगा, तब तक उसका सामग्री-संकलन का कार्य सफल नहीं हो सकता।

सामग्री-संकलन के उपरान्त शोधार्थी को उसमें से तथ्यान्वेषण करना होता है। यहाँ उसे तथ्यों की मात्रा एवं गुणों में समन्वय की दृष्टि अपनानी होती है। आवश्यकता से

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अधिक किन्तु निरर्थक तथ्य जुटाने से शोध-कार्य पर विपरीत प्रभाव पड़ने की पूर्ण संभावना रहती है।

यहाँ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इतिहास के अध्ययन के लिए प्राप्त तथ्य भाव-चित्र मात्र होते हैं। हम उन्हें साक्षात् नहीं देख सकते। केवल भावों की आँखें ही उन्हें देख पाती हैं। अतः उनका विशिष्ट होना सहज है। इसलिए अनेक तथ्यों में परस्पर तुलनात्मक दृष्टि से ग्रहण-त्याग की शैली अपनानी होती है। यह दृष्टि प्रायः व्यक्तिनिष्ठ हो जाती है। इसलिए सावधानीपूर्वक शोधकर्त्ता को ऐसे निर्णय लेने होते हैं जिनसे तथ्यों पर उसकी व्यक्तिनिष्ठता हावी न हो जाए। अतीत की सामग्री से उपलब्ध तथ्य भाव व घटनाओं को जन्म तो दे सकते हैं, उनके कारण बन सकते हैं, किन्तु वे मार्गदर्शन नहीं माने जा सकते, क्योंकि इतिहास की धारा अविच्छिन्न होने पर भी निरंकुश होती है। अतः तथ्यों की छँटनी करते समय शोधार्थी को उनकी शक्ति और प्रभाव को भी बहुत सावधानी से समझ लेना चाहिए। कभी-कभी अतीत और वर्तमान की कई घटनाओं में ऊपरी समानताएँ दिखाई देती है। उन समानताओं के आधार पर किन्हीं तथ्यों को प्रमाण बनाकर शोध के अगले सोपान पर अग्रसर होना कभी-कभी अत्यन्त विश्वसनीय परिणामों पर पहुँचा सकता है। लोग कहते हैं कि इतिहास स्वयं को दोहराता है, किन्तु इस कथन में आंशिक सत्य ही है, सदैव ऐसा नहीं होता बल्कि अधिकांशतः विपरीत इतिहास सामने आता है। अतः तथ्यों का वर्गीकरण उपर्युक्त कथन के प्रकाश में कर देना भयंकर भूल मानी जानी चाहिए।

तथ्य-संकलन के उपरान्त इतिहास के शोधकर्त्ता को तथ्य-विश्लेषण और व्याख्या के सोपानों पर आरोहण करना होता है जो तथ्य उसने सामग्री से चयन किये हैं, उनका भली-भाँति विश्लेषण करके उनकी व्याख्या करनी होती है। इस कार्य के लिए उसे तर्क-पूर्वक उपयुक्त प्रमाण प्रस्तुत करने होते हैं। प्रमाणीकरण की स्थिति में विभिन्न साधन काम आते हैं। अतीतकालीन पट्टे-परवाने, सिक्के, शिलालेख, उत्खनन-सामग्री, पाण्डुलिपियाँ, मूर्तियाँ, प्राचीन चित्र आदि के प्रमाण देकर शोधकर्त्ता अपने विश्लेषण को प्रामाणिक बनाता है।

विश्लेषण और विवेचन की उचित योग्यता के अभाव में प्रमाण भी निरर्थक सिद्ध होते हैं। अतः शोधार्थी को बहुत सावधानीपूर्वक विश्लेषण और विवेचन में प्रवृत्त होना चाहिए। किसी भी तथ्य पर चलती दृष्टि या लापरवाही से भरी टिप्पणियाँ गंभीर दुष्परिणामों तक पहुँचा सकती हैं तथा समस्त शोध कार्य को ही हास्यास्पद बना सकती हैं। विश्लेषण और विवेचन जितना तर्क-पुष्ट तथा प्रमाण-सम्मत होगा, उतना श्रेष्ठ शोध-कार्य सम्पन्न हो सकेगा। वस्तुतः इतिहास की सामग्री तो इधर-उधर बिखरी या संग्रहालयों एवं अभिलेखागारों में भरी पड़ी है, किन्तु उससे अपेक्षित तथ्य संग्रह करके उनका एक समस्या के रूप में सही दिशा में तर्क-सम्मत प्रमाण-पुष्ट सही विश्लेषण एवं विवेचन कर देना ही तो महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य माना जा सकता है। अधिकांश तथ्य इतिहासकारों द्वारा प्रकाश में

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ला दिये जाने के पश्चात् भी नवीन विश्लेषण एवं व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। हर तथ्य में कोई-न-कोई विशेष एवं रहस्यात्मक बात हो सकती है, जिस पर अब तक प्रकाश न पड़ा हो। इतिहास के शोधार्थी को गंभीर दृष्टि से तथ्य-विश्लेषण करके उपयुक्त विवेचन द्वारा उसी को प्रकाश में लाना सार्थक शोध का कार्य होता है। विश्लेषण करते समय ही यह देखना होता है कि विभिन्न तथ्यों का पूर्वापर सम्बन्ध क्या है, या नहीं भी है। कोई भी तथ्य स्वयं में इतना स्पष्ट नहीं हो सकता कि उसमें छिपे रहस्य बिना विश्लेषण किये स्वयं प्रकट हो जाएँ, साथ ही विभिन्न तथ्यों में कारण-कार्य सम्बन्ध की तलाश भी कभी-कभी सार्थक सिद्ध होती है। यह कार्य भी उचित विश्लेषण और विवेचन से ही संभव हो पाता है। विभिन्न घटनाओं का प्रतिफलन तथ्यों के रूप में होता है और विभिन्न तथ्य नवीन घटनाओं के जनक भी बनते हैं। शोधार्थी की विवेक-पूर्ण दृष्टि उचित विश्लेषण करके उसे सही परिणामों तक पहुँचाती है।

वस्तुतः विश्लेषण और विवेचन से तथ्यों का उपयुक्त मूल्यांकन करने का मार्ग प्रशस्त होता है तथा नये तथ्य प्रकाश में आते हैं। इतिहास की शोध-प्रविधि सामाजिक विज्ञानों की शोध-प्रविधि से पर्याप्त भिन्न है। इसमें प्रश्नावली आदि को आधार बनाकर सांख्यिकीय-पद्धति नहीं अपनाई जा सकती, न सिद्धान्त-निरूपण की आवश्यकता होती है। अतः इतिहास के शोधार्थी को बहुत तटस्थ होकर तथ्यों का विश्लेषण व परीक्षण करना होता है।

विश्लेषण-विवेचन और परीक्षण के उपरान्त शोधकर्ता शोध के परिणामों पर पहुँचने लगता है। ये परिणाम व्यक्ति-निष्ठ न होकर वस्तुनिष्ठ होने चाहिएँ। इसलिए इतिहास की शोध में भाषा का भी बहुत महत्त्व है। शोधार्थी को बहुत संयत भाषा में परिणामों की प्रस्तुति में संलग्न होना पड़ता है। इतिहास-लेखन की भाषा कभी-कभी वर्तमान स्थितियों, परिस्थितियों एवं विभिन्न राजनीतिक प्रभावों से बोझिल हो जाती है तथा पर्याप्त ईमानदारी से किये गये अध्ययन के परिणाम भी शोधार्थी जब लिखने बैठता है, तब भाषा में दुर्बलता आ जाने के कारण दूषित हो जाते हैं। अतः विवेचन से उपलब्ध परिणामों की शुद्धता की रक्षा के लिए भाषा पर सम्यक् अधिकार एवं संतुलन बनाये रखना बहुत आवश्यक होता है।

किसी भी विषय का शोध-कार्य तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक विवेचन के सोपान तक पहुँची सिद्धियाँ उचित निष्कर्षों तक न पहुँचें। अतः शोधार्थी को अपने अध्ययन के परिणामों को संयत ढंग से प्रभावशाली भाषा में स्पष्ट निष्कर्षों के रूप में प्रस्तुत करना भी अपेक्षित होता है।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शोधकार्य की पूर्णता के लिए अध्ययन के मार्ग में उपलब्ध सभी संदर्भों को वाद-टिप्पणियों के रूप में प्रस्तुत करना तथा अधीत ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं, पट्टे-परवानों, शिलालेखों आदि का परिशिष्ट रूप में प्रस्तुत करना भी शोध-प्रविधि का अनिवार्य अंग है।

निष्कर्ष

अन्त में हम कह सकते हैं कि इतिहास सम्बन्धी शोध की प्रविधि सामाजिक विज्ञानों की शोध-प्रविधि से पर्याप्त भिन्न है। इस क्षेत्र का शोध-कार्य मानविकी के अन्य विषयों जैसा ही शोध-कार्य है, केवल अध्ययन की सामग्री भिन्न होती है। शोध के परिणाम भी साहित्य, कला आदि के शोध-परिणामों के समान ही मूल्यपरक एवं प्रामाणिक होते हैं।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

8

दर्शनशास्त्र की अनुसंधान-प्रविधि

दर्शनशास्त्र का विस्तार

मानविकी विषयों में दर्शनशास्त्र का विशेष महत्त्व है। मानवीय चिन्तन का चिरकालीन भण्डार दर्शनशास्त्र ही है। जीवन की उत्पत्ति कैसे होती है ? यह संसार क्या है ? क्या कोई जीव और जगत् का नियंत्रण करता है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न तो मानव-सभ्यता के विकास के साथ उठते ही रहे हैं। साथ ही, ज्यों-ज्यों मानव-जाति का सांस्कृतिक विकास होता गया है, त्यों-त्यों अन्य अनेक प्रश्न भी उठते चले गये हैं। उदाहरण के लिए, समाज क्या है, व्यक्ति क्या है आदि, या मानव की उत्पत्ति का रहस्य क्या है, आदि। आध्यात्मिक दर्शनों के साथ-साथ भौतिक दर्शनों का भी विकास होता रहा है। फलतः मानवीय चिन्तन अनेक प्रकार की विचारधाराओं में विभाजित हो गया है। अनेक धर्म और सम्प्रदाय बने हैं तथा उनसे प्रभावित होकर नये पंथ चले हैं जिनका जाल समस्त संसार में फैला हुआ है।

दर्शनशास्त्र में शोध की आवश्यकता

भारत में भी अनेक मत, सम्प्रदाय, पंथ आदि पाये जाते हैं। जितने मंदिर-मठ बने, सबके साथ अलग-अलग मतवाद जुड़ते चले गये। हर सम्प्रदाय ने अपने लिए पृथक् ग्रन्थ तैयार कर लिया और उसके आधार पर उसका नया दर्शन चल पड़ा। यों भारतवर्ष में अनेक देवी-देवता ही नहीं बने, मतवाद भी अनेक हो गये हैं। इन सब पंथों की विचार-धाराओं में कितना सत्य है, कितना झूठ; कितना अंश निर्मल है और कितना समल, कितना यथार्थ है और कितना आडम्बर; इन बातों की छानबीन सदा आवश्यक है। इसी छानबीन के लिए दर्शनशास्त्र सम्बन्धी अनुसंधान आवश्यक होता है। शुद्ध दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन तो बहुत कठिन कार्य है। यह कार्य विश्वविद्यालयों की कक्षाओं में बैठकर या उपाधियाँ धारण करके नहीं हो सकता; इसके लिए तो सभी उपाधियों से निःशेष होना पड़ता है।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वस्तुतः जिस प्रकार की शोध दर्शनशास्त्र में आवश्यक है; वह है उपलब्ध चिन्ता-धाराओं का पुनराख्यान तथा उसके प्रकाश में उन धाराओं के सामाजिक प्रभावादि का मूल्यांकन।

दर्शनशास्त्र में शोध की प्रविधि

दर्शनशास्त्र सम्बन्धी विचार-ग्रन्थों से आरंभ होकर सम्प्रदायों, मठों, मन्दिरों, अन्य धर्मों के पूजाघरों, व्यक्तियों, समुदायों आदि तक जाते हैं। इस विस्तार को देखते हुए दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी शोध को मुद्रित सामग्री तक सीमित कर देना भारी भूल होगी। अतः विषय का चयन करते समय शोधार्थी को यह ध्यान रखना चाहिए कि उसका शोध-क्षेत्र क्या है ?

यदि शोध कार्य की परिकल्पना सोच-समझकर तय की जाए तो उसकी रूपरेखा सरलता से ऐसी बन सकती है जिसका निर्वाह उचित दिशा में हो सके। यदि शोध-परिकल्पना पाण्डुलिपियों पर आधारित है, तो सर्वप्रथम शोधार्थी को प्राचीन लिपिज्ञान प्राप्त करना होगा तथा तत्पश्चात् उसे निर्धारित करना होगा कि वह किन-किन पाण्डुलिपियों का अध्ययन करे। यह कार्य करने के लिए शोधार्थी को प्राचीन भाषाओं का ज्ञान भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ, भारतीय दर्शनों पर शोध-कार्य करने वाले व्यक्ति को, यदि वह वैदिक दर्शनों पर शोध करना चाहता है, तो संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त करके ही विषय में प्रवेश करना चाहिए। जो शोधार्थी बौद्ध एवं जैन दर्शनों पर शोध करना चाहते हैं, उन्हें पाली, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो मूल प्रस्थान ही गलत हो जाता है। जिस भाषा में ग्रन्थ लिखे हुए है, उसे जाने बिना शोध क्या, सामान्य अध्ययन भी संभव नहीं है। प्रायः देखा जाता है कि संस्कृत भाषा का 'अ', 'ब', 'स' भी न जानने वाले शोधार्थी दर्शनशास्त्र की स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त कर लेते हैं और वैदिक दर्शन सम्बन्धी परिकल्पनाएँ लेकर शोध-कार्य आरंभ कर देते हैं। यही स्थिति कभी-कभी बौद्ध एवं जैन दर्शनों से सम्बन्धित विषयों में भी बनती है। अतः शोधकर्त्ता को ऐसी भयंकर भूल से बचना चाहिए।

मुद्रित ग्रन्थों अथवा पाण्डुलिपियों के आधार पर किया गया शोध कार्य कभी-कभी उसके व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा कर देता है। कोई भी दर्शन व्यावहारिक जीवन में उतरने से नहीं बचा। यही कारण है कि तरह-तरह के सम्प्रदाय और मतवाद प्रचलित हो गये हैं। शोधकर्त्ता को इन सम्प्रदायों और मतवादों तक उन दर्शनों के विस्तार और समय-समय पर उनमें आ जाने वाली विकृतियों का भी पता लगाना होता है। अतः दर्शनशास्त्र के शोधकार्य में कभी-कभी प्रश्नावली और आँकड़ों की पद्धति से भी सहयोग लेना चाहिए। ऐसा करने पर ही सही सामग्री एकत्र हो सकती है तथा उस पुष्ट आधार पर ही शोधकर्त्ता का अध्ययन सही दिशा में अग्रसर हो सकता है।

शोध की परिकल्पना का सही चुनाव हो जाने और आधारभूत सामग्री के संकलन तथा समझने की स्पष्ट दिशा ज्ञात हो जाने के पश्चात् शोधकर्त्ता को सम्बन्धित सिद्धांतों का

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गंभीर अध्ययन करना चाहिए और कार्ड बनाकर प्रमाण-सामग्री जुटानी चाहिए। दर्शनशास्त्र में प्रमाणों का बहुत महत्त्व है। प्रमाणों की व्याख्या के आधार पर ही किसी दर्शन-विशेष के व्यावहारिक स्वरूप की समीक्षा संभव हो सकती है। कभी-कभी किसी मतवाद के आधार पर प्रचलित विभिन्न विश्वास तथा धार्मिक व्यवहार समय के परिवर्तन के साथ इतने अधिक बदल जाते हैं कि उनके मूल स्वरूप की पहचान ही छिप जाती है। उस पहचान को पुनः स्थापित करने तथा उसके आधार पर लोक-व्यवहार में स्वीकृत सिद्धांतों का विवेचन करके किन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचना कठिन हो जाता है। इस कठिनाई को तभी हल किया जा सकता है, जब शोधार्थी विषय का गंभीर अध्ययन करके प्रमाणभूत सामग्री को विवेकपूर्वक समझने में सफल हो।

दर्शनशास्त्र में शोध करने के लिए शोधार्थी को विषय की परिकल्पना एवं रूपरेखा आदि तैयार करने के उपरान्त सामग्री संकलन और प्रमाण-पद्धति तक पहुँचने में जो समय लगता है, वह विश्लेषण के स्तर पर बहुत काम आता है। व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित विषय होने पर शोधार्थी को प्रश्नावली और सर्वेक्षण का सहारा भी लेना ही पड़ता है, किन्तु उसके पश्चात् भी विश्लेषण के स्तर से ही वास्तविक शोध-कार्य आरंभ होता है। प्रमाणों के प्रकाश में विश्लेषण करके उचित विवेचन करना और महत्त्वपूर्ण तथ्यों की पहचान पर बल देना दार्शनिक चिन्तन को परिपुष्ट करता है।

दार्शनिक ज्ञान में तर्कशास्त्र का विशेष महत्त्व है, अतः विवेचन करते समय तर्क को अधिक से अधिक सुदृढ़ आधारों पर प्रतिष्ठित करना चाहिए। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि तर्क ऐसे हों जो मानव-जीवन की गुत्थियों को सुलझाने वाले विचारों को समृद्ध करें तथा जो पूर्णतः विश्वसनीय निष्कर्षों तक पहुँचाएँ।

विवेचन के उपरान्त दर्शनशास्त्र के शोधार्थी को उपसंहार में अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करके सिद्धांत-विशेष के महत्त्व की स्थापना पर विशेष बल देना चाहिए। उसके निष्कर्ष ऐसे होने चाहिएँ जो कल्पित प्रतीत न हों तथा जिनसे सामाजिक हित की शर्त का उल्लंघन न हो।

दर्शनशास्त्र के शोधार्थी को शोध-प्रबंध का लेखन-कार्य संक्षेप में करना चाहिए। अनावश्यक विवरणों या वर्णनात्मक आलेख दर्शनशास्त्रीय निष्कर्षों में विशेष सहायक नहीं होते। शोध-प्रबन्ध में दिये गये संस्कृत आदि भाषाओं के दार्शनिक ग्रन्थों से उद्धृत प्रमाणों को बहुत सावधानी से अंकित करना चाहिए, ताकि वे अशुद्ध होकर अपनी विश्सनीयता न खो बैठें, पाद-टिप्पणी में उनके पूर्ण विवरण अवश्य दिए जाएँ, ताकि उनका मिलान करने की आवश्यकता पड़ने पर किसी प्रकार की कठिनाई परीक्षक या पाठक को न हो।

परिशिष्ट में उन सभी ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं, शिलालेखों, पाण्डुलिपियों आदि का लेखक, सम्पादक, प्रकाशक, संस्मरण आदि सहित उल्लेख किया जाना बहुत आवश्यक है। जिन विद्वानों के कार्यों से सहायता ली जाए, उनका उल्लेख एवं किस सीमा तक उनका

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कार्य आगे बढ़ाया गया है, यह तथ्य आरंभ में दी जाने वाली भूमिका में अवश्य कर देना चाहिए। अपने शोध-कार्य की मौलिकता का प्रतिपादन भी भूमिका में ही कर देना आवश्यक है।

यों तो सभी विषयों के शोध-प्रबन्धों का टंकण-कार्य शुद्ध होना चाहिए, किन्तु दर्शनशास्त्र में संस्कृत के श्लोकों आदि का टंकण पूर्णतः शुद्ध हो, यह ध्यान रखना बहुत आवश्यक है।

निष्कर्ष

वस्तुतः दर्शनशास्त्र की शोध-प्रविधि इतिहास, साहित्य आदि अन्य मानविकी विषयों के समान ही है। शोध प्रबन्ध-लेखन तथा अन्य सभी दृष्टियों से उसका प्रस्तुतिकरण भी उन सब बातों की अपेक्षा रखता है जिनकी अपेक्षा साहित्य के शोधार्थी से की जाती है।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

9

ललितकलाओं में अनुसंधान

विश्वविद्यालयों के मानविकी संकायों में मुख्यतः चित्रकला की शिक्षण-व्यवस्था है। कुछ विश्वविद्यालयों में संगीत-कला एवं नृत्य-कला का शिक्षण भी दिया जाता है। इन कलाओं में शोध का क्षेत्र बहुत सीमित रहता है।

चित्रकला

यह कला संगीत और नृत्य की अपेक्षा भौतिक आधार की अधिक अपेक्षा रखती है। आधार या फलक, रंग, तूलिका, दृश्य आदि की सहायता से चित्र का निर्माण संभव होता है। कलाकार अपने विषय में जितना निष्णात होता है, उतना ही कुशल शिक्षण-प्रशिक्षण वह अपने छात्रों को दे सकता है। यह कुशलता, अभ्यास और ज्ञान दोनों पर तो निर्भर होता ही है, साथ ही कलाकार में एक विशेष प्रज्ञा की भी आवश्यकता होती है। वह कल्पनाशील भी होना चाहिए। उसमें समाज तथा प्रकृति को गंभीरता से देखने-परखने और समझने की रुचि तथा क्षमता भी होनी चाहिए। प्रत्येक कला कलाकार से निर्लोभ, निर्लज्ज तथा तल्लीनतावृत्ति की भी अपेक्षा रखती है। कला के प्रति सच्चा प्रेम होने पर ही कलाध्यापक अन्य कलाकारों की कृतियों की सराहना कर सकता है। अतः हर कलाध्यापक से यह अपेक्षा भी की जाती है कि वह अन्य कलाकारों की कृतियों की सराहना करने का अभ्यास करे।

चित्रकला के अनेक नये आयाम खुलते जा रहे हैं। फलक, रंग, तूलिका तथा अन्य उपकरणों के क्षेत्रों में भी पर्याप्त परिवर्तन व विकास हुआ है। उनके प्रयोग की पद्धतियों में भी नये-नये दृष्टिकोणों का विकास हुआ है। प्राचीन काल में चित्रकला के जो साधन थे, वे बहुत कुछ बदलते जा रहे हैं। चित्रों की अनेक शैलियाँ विकसित हुयीं और अनेक समाप्त भी हो गयीं तथा जो बचीं, उनमें भी परस्पर संक्रमण हुआ। फलतः प्राचीन कला-शैलियों में भी अनेक नये रूप उभरे और उन्होंने परम्परागत कला-शैलियों को आकर्षक आयाम दिये। कल्पनाशील कलाकारों ने अनेक नवीन कलाशैलियों को भी जन्म दिया। पाश्चात्य

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चित्रकार पिकासो के प्रभाव से भी आधुनिक कला-शैलियों का विकास हुआ है। इस प्रकार चित्रकला के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रान्ति हुई है। इस क्रांति को समझ पाना और तदनुकूल कलाभ्यास कराना तथा छात्रों की कला-दृष्टि को नये आयाम देना प्रत्येक उच्चस्तरीय कलाध्यापक का मुख्य कर्तव्य होता है। इसी कर्त्तव्य के पालन के लिए उसे कला-सम्बन्धी शोध-कार्य में निरन्तर प्रवृत्त रहने की आवश्यकता होती है।

पूर्वोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि चित्रकला में भी शोध-कार्य की बड़ी महत्ता है। हर कलाध्यापक को शोध-दृष्टि सम्पन्न तो होना ही चाहिए, साथ ही उसे शोध का अच्छा अभ्यास भी होना चाहिए। शोध-दृष्टि और शोध-अभ्यास के साथ-साथ उसे शोध-सम्बन्धी इतिहास का ज्ञान भी होना चाहिए।

चित्रकला और इतिहास

वस्तुतः चित्रकला किसी भी देश की संस्कृति के स्वरूप को सुरक्षित रखती है। हर काल में मानव-समाज की विभिन्न गतिविधियों, मनोवृत्तियों और कलात्मक प्रवृत्तियों का आकलन चित्रकला के माध्यम से सहज रूप में हो जाता है। अतः किसी भी देश के किसी भी काल के इतिहास में चित्रकला की स्थिति को देखना-परखना और समझना-समझाना एक अच्छे कलाकार का प्रमुख कार्य होता है। इस दृष्टि से चित्रकला और इतिहास का विशेष सम्बन्ध होता है। चित्रकार को अतीतकालीन चित्रकला के विभिन्न स्वरूपों और शैलियों तथा उनकी विशेषताओं से अच्छी तरह परिचित होना चाहिए। यह परिचय शोध-कार्य करने पर ही हो सकता है। अतः कलाध्यापक को चित्रकला के क्षेत्र में अच्छी पहुँच के लिए प्रत्येक युग के इतिहास की चित्रकला के विभिन्न आयामों का गंभीरता से अध्ययन करना चाहिए। यह कार्य तभी संभव हो सकता है जब वह देश के इतिहास का अच्छा ज्ञाता हो।

चित्रकला और साहित्य

साहित्य मानव-समाज की विभिन्न कालों में संचित महत्त्वपूर्ण अनुभूतियों, भावनाओं और विचारधाराओं का रचनात्मक कोश होता है। चित्रकला भी मानव-समाज की इसी सम्पत्ति को फलक पर रंगों रूपायित करती है। साहित्य और चित्रकला दोनों में भाव, विचार तथा कल्पना का समान सम्मिश्रण रहता है। अतः चित्रकार को साहित्य को समझने की गंभीर दृष्टि भी अपनानी पड़ती है। इसके लिए यह आवश्यक होता है कि वह साहित्य को पढ़ने और समझने की रुचि का अपने भीतर विकास करे। यही रुचि उसे अपने छात्रों में भी विकसित करनी होती है। साहित्य में तीव्र गति से नये-नये परिवर्तन हो रहे हैं तथा लेखन-शैलियों का विकास हो रहा है। उसे भी उसी गति से समझते चलना चित्रकला के शोधकर्मी के लिए आवश्यक नहीं तो सहायक अवश्य है।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साहित्य में काव्य एक ऐसी ललित कला है, जिसमें चित्र का विशेष महत्त्व है। चित्रकार रंगों और तूलिकाओं से जो कार्य करता है, वही कार्य कवि अपनी शब्दावली से सम्पन्न करता है। वह भी मानस-चित्रों का निर्माण कर अपनी शब्दावली में उन्हें विभिन्न बिम्बों का रूप देता है। प्राचीन काल में कविताओं को चित्रों में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति भी आरंभ हुई थी। मध्यकाल में इसका पर्याप्त विकास हुआ। हिन्दी की रीतिकालीन कविता की पाण्डुपिलियाँ तैयार कराते समय राजा-महाराजाओं ने कलाकारों को छंदों के साथ चित्र अंकित करने की प्रेरणा भी दी। आज भी विभिन संग्रहालयों में ऐसी पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं जिनमें नायक-नायिकाओं की विभिन्न क्रीडाओं, राज-प्रासादों, उद्यानों आदि के चित्र कविताओं के साथ मिलते हैं। ये चित्र स्वर्ण-रजत तथा अन्य धातुओं का मिश्रण करके स्थायी रंगों से बनाये गये हैं। ऐसी पाण्डुलिपियों का कितना महत्त्व एवं मूल्य है, यह हर कोई व्यक्ति नहीं समझ सकता। दीवारों पर भी राज-प्रासादों में दोहा आदि छंदों के साथ विभिन्न आकर्षक चित्र अंकित किये गये हैं जिनसे साहित्य और चित्रकला का अभिन्न सम्बन्ध प्रकट होता है। कला-शोधार्थी को इस सम्बन्ध का उद्घाटन एवं मूल्यांकन करना होता है। दोनों कलाओं के मूल में अनुभूतिगत एकता वर्तमान रहती है, केवल माध्यम एवं शिल्प का अंतर रहता है। यह अंतर ही साहित्य में चित्रकला की शोध-प्रविधि को उसी प्रकार कुछ भिन्न बनाता है, जिस प्रकार इतिहास से भिन्न बनाता है।

चित्रकला और दर्शनशास्त्र

चित्रकला के साथ दर्शनशास्त्र का भी बहुत सम्बन्ध है। जहाँ कोई अनुभूति होती है, उसे जब कभी रचनात्मक स्वरूप मिलता है, तब दर्शनशास्त्र की भावभूमि अवश्य निर्मित हो जाती है। चित्रकार जब अपनी रचना में तन्मय हो जाता है तब उसके हृदय की स्फूर्ति विभिन्न विचारों को जन्म देती है। अतः चित्रकला के क्षेत्र में शोध करते समय दार्शनिक विचार-पद्धतियों का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ, राधाकृष्ण की चित्रावली का अवलोकन करते समय कृष्ण-सम्बन्धी विभिन्न चिन्ता-धाराओं का सहारा लेना ही पड़ता है।

चित्रकला और संगीत

संगीत और साहित्य का तो अभिन्न सम्बन्ध है ही, चित्रकला से भी उसका बहुत पुराना नाता है। संगीत की विभिन्न ध्वनियों अ.. राग-रागनियों पर आधारित अनेक चित्र बनाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में चित्रकला की कई शैलियाँ भी विकसित हुई हैं। अतः संगीत की राग-रागनियों को समझकर ही शोधार्थी कलाकृति का सही मूल्यांकन कर सकता है। शोध का एक उद्देश्य सत्यान्वेषण के अलावा सौन्दर्य की अनुभूति कराना भी है। यह कार्य संगीत का मर्मज्ञ शोधक ही चित्रकला में निष्पादित कर सकता है।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चित्रकला में शोध की प्रविधि

प्रश्न यह उठता है कि इतिहास, दर्शन, संगीत, साहित्य आदि से इतना अधिक सम्बद्ध चित्रकला की शोध-प्रविधि इन विषयों की शोध-प्रविधि से किन बातों में भिन्न हो सकती है ?

वस्तुतः समानता के अनेक तत्त्व होते हुए भी चित्रकला की शोध-प्रविधि में कई बातों में मौलिक अन्तर मिलता है। चित्रकार साहित्य, इतिहास, संगीत तथा दर्शनशास्त्र की तरह शब्द और स्वर पर निर्भर नहीं होता। उसकी निर्भरता मूलतः फलक, तूलिका और रंग-रेखाओं पर होती है। शोधकर्मी को इन्हीं के सहारे कला के मर्म तक पहुँचना होता है। एक ओर तो वह कला के इतिहास की खोजबीन ऐतिहासिक पद्धति से करता ही है, दूसरी ओर वह रूप-रंग की पहचान के माध्यम से कला के सौन्दर्य-तत्त्व का पता लगाता है। कलात्मक बिम्बों का सम्यक् आकलन करने के लिए शोधकर्त्ता को कलाकार के मानस की गहराइयों में भी उतरना होता है। अतः चित्रकला के क्षेत्र में शोध-कार्य पर्याप्त दुरूह हो जाता है।

सामान्यतः चित्रकला के शोधकर्त्ता के लिए विभिन्न कलात्मक शैलियों के अनुसंधान के मार्ग खुले होते हैं। किसी भी चित्र-शैली का ऐतिहासिक विकास खोजना और तत्कालीन एवं समकालीन संदर्भों में उनका मूल्यांकन करना चित्रकला-सम्बन्धी शोध-कार्य की एक महत्त्वपूर्ण पद्धति बन गई है। सौन्दर्य-मूलक पद्धति से भी चित्रकला के क्षेत्र में शोध की जा सकती है। कलाकार की सौन्दर्य-सम्बन्धी दृष्टियों का अनावरण करने के लिए शोधकर्त्ता को चित्र की रूपरेखा, रंग-शैली, भाव-चित्रण आदि पर तुलनात्मक पद्धति से ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। विभिन्न चित्रकारों की कला-शैलियों के मध्य समानता-विभिन्नता एवं मौलिकता के तत्त्वों का पता लगाने के लिए साहित्यिक ढंग से विवेचना भी आवश्यक होती है। अध्ययन के परिणामों पर पहुँचकर अंत में मौलिक निष्कर्ष देना भी शोध-प्रविधि का एक अंग माना जाना चाहिए।

संगीतकला और शोध

चित्रकला से भी अधिक व्यापक क्षेत्र संगीत कला का माना जाता है। संगीत का एक पूर्व निर्धारित शास्त्र तो होता ही है, साथ ही मौलिक संगीतकार नये शास्त्र को भी जन्म देते हैं। शोधकर्त्ता के लिए विभिन्न राग-रागनियों के इतिहास को समझकर उनके विकास एवं सिद्धान्तों का अन्वेषण आवश्यक होता है। काव्य और संगीत का अत्यधिक अभिन्न सम्बन्ध है। स्वर, लय, छंद आदि की दोनों कलाओं में आवश्यकता होती है। अतः संगीत की गायन-शाखा में शोध का कार्य अधिकांशतः काव्य-सम्बन्धी अनुसंधान की तरह ही चलता है। वाद्य संगीत का विधान अवश्य भिन्न होता है और इसके लिए परम्परागत तथा नव-प्रयुक्त वाद्य-सिद्धान्तों का शास्त्रीय पद्धति से अन्वेषण करना होता है।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संगीतकारों की जीवन और उनकी साधना भी संगीत-क्षेत्रीय अनुसंधान का विषय बनती है और उसमें साहित्यिक एवं ऐतिहासिक शोध-पद्धतियों का आश्रय लिया जाता है।

निष्कर्ष

ललित-कलाओं में शोध-कार्य के लिए उतना अवकाश नहीं रहता, जितना अन्य मानविकी विषयों में रहता है। शोध-प्रविधि में अनेक बातों में समानता रहती है। शोधकर्त्ता को ललित-कलाओं में शोध करने के लिए इतिहास, साहित्य और दर्शन तीनों का सामान्य ज्ञान अपेक्षित होता है। उसमें सौन्दर्य-दृष्टि की भी अपेक्षा की जाती है।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

10

भाषिकी अनुसंधान-प्रविधि

भाषा मानव-समाज की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। मनुष्य को अन्य जीवों की तुलना में यह सबसे बड़ा वरदान मिला है। सभी व्यक्ति अपनी माँ से भाषा सीखना आरंभ करते हैं। शैशव में ही जिनके ऊपर से माँ का अंचल हट जाता है, वे भी किसी-न-किसी पालन-पोषण-कर्त्ता परिवार से भाषा प्राप्त करते हैं। संसार के किसी भी देश में चले जाइए, वहाँ के निवासी भाषा-सूत्र में ही आबद्ध समाज का अंग मिलेंगे। जहाँ ईश्वर ने इतनी महत्त्वपूर्ण भाषा-सम्पदा मनुष्य को दी है, वहीं उसने एक बहुत भारी भूल भी की है। वह भूल यह है कि संसार के सभी मनुष्यों का उसने एक ही भाषा नहीं दी। भौगोलिक परिस्थितियों तथा अन्य अनेक ऐतहासिक कारणों से संसार के विभिन्न देशों में विभिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं। इतना ही नहीं, एक भाषा के भी अनेकानेक बोली-रूप मिलते हैं और वे रूप भी बदलते रहते हैं। फलतः दीर्घकालोपरान्त मूल भाषा का रूप भी बदल जाता है। एक ही काल में भी सामाजिक व्यवहार की भाषा साहित्यिक व्यवहार की भाषा से भिन्न हो जाती है। धनी-निर्धन, श्रमिक-बुद्धिजीवी आदि की भाषाओं में भी स्तर एवं व्यंजना का अन्तर पाया जाता है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर देखें तो भाषिकी-सम्बन्धी शोध का क्षेत्र बहुत विस्तृत प्रतीत होने लगता है, किन्तु यह वास्तविकता भी है। मानविकी के विभिन्न विषयों में यही विषय सर्वाधिक गंभीर एवं व्यापक शोध की अपेक्षा रखता है। इस विषय का अनुसंधान किसी एक प्रक्रिया से ही पूर्ण नहीं हो सकता।

भाषा का लिखित रूप ग्रन्थों में मिलता है। शब्द प्रयोग और वाक्य रचना तक भाषिकी शोध को सीमित नहीं किया जा सकता। अर्थ के विस्तार और व्यंजना की संभावनाओं को भाषा की गहराई तक पहुँचने के लिए समझना होता है। अतः ग्रन्थों में भी साहित्यिक ग्रन्थों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि उनकी भाषा का रूप निश्चित होता है तथा उसके प्रयोग का काल-परिज्ञान भी रहता है। अतः साहित्य की विभिन्न विधाओं के समान शोध-प्रविधि से साहित्यिक या लिखित भाषा का अध्ययन किया जा सकता है। किन्तु जिन

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भाषा-रूपों में साहित्य-रचना नहीं मिलती, केवल व्यवहार तक जो सीमित होते हैं, उनका अनुसंधान करने के लिए शोधार्थी को क्षेत्र-कार्य की पद्धति अपनानी पड़ती है। इस पद्धति के द्वारा भाषा-रूपों के स्रोतों तक पहुँच कर सामग्री एकत्र की जाती है और तदुपरान्त साहित्यिक प्रविधि से उस सामग्री का विश्लेषण, विवेचन एवं मूल्यांकन किया जाता है। अतः भाषिकी शोध के लिए मिश्रित शोध-पद्धति ही उपादेय सिद्ध होती है।

क्षेत्र-कार्य

भाषा के किस रूप की तात्विक शोध करना अभिप्रेत है, यह निर्धारित हो जाने के उपरान्त शोधकर्त्ता को यह निश्चित करना होता है कि उसकी तथ्य-सामग्री कहाँ उपलब्ध होगी— ग्रन्थों में या लोक-जीवन में ? यदि लोक-जीवन से भाषा की अभिप्रेत सामग्री एकत्र करनी होती है, तो उसे निम्नांकित बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए :

1. सामग्री विषय से सम्बन्धित हो। अनर्गल और अनावश्यक तथ्य एकत्र न किए जाएँ। अतः इस कार्य के लिए सोच-समझ कर प्रश्नावली बनाई जाये।
2. प्रश्नावली ऐसी हो, जिसके निश्चित उत्तर मिल सकें।
3. उत्तर लिखने वाले व्यक्तियों को अरुचिकर प्रश्नावली न दी जाये।
4. उत्तरों में भाषा-सम्बन्धी छानबीन मुख्य हो तथा उससे शब्दार्थ एवं उच्चारण की सही पकड़ की जा सके।
5. प्रश्नावली कम समय ले तथा धन का अधिक व्यय कराने वाली न हो।
6. प्रश्नावली समाज के विभिन्न वर्गों से सम्बन्धित हो तथा अभिप्रेत क्षेत्र पर ध्यान केन्द्रित किया जाये।
7. ध्वनियों के शुद्ध उच्चारण को ग्रहण करने के लिए अपेक्षित यंत्रादि का यथावश्यक प्रयोग किया जाये।

तथ्य-वर्गीकरण

भाषिकी अनुसंधान के लिए प्राथमिक तथ्यों का संग्रह प्रामाणिक रूप से किया जाना चाहिए। जो तथ्य प्राप्त हों तथा उनका विषय को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त वर्गीकरण किया जाए। जो तथ्य प्राथमिकता की सीमा में नहीं आते, उन्हें भी अनावश्यक मानकर उपेक्षित नहीं कर देना चाहिए। प्राथमिक तथ्यों की पुष्टि में या सहायक तथ्यों के रूप में कभी-कभी उन तथ्यों का भी बहुत उपयोग हो जाता है जिनका शोधार्थी अनुपयोगी मानकर छोड़ देता है।

प्राथमिक तथ्य स्वयं या अपने सहायक के माध्यम से ही एकत्र किए जाने चाहिएँ, ताकि उनकी प्राथमिकता बनी रहे।

भाषिकी अनुसंधान में ऐसे तथ्य उपयोगी सिद्ध होते हैं, जो अन्य व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा प्रकाशित किये जा चुके हैं। हम ऐसे तथ्यों को द्वितीय वर्ग में रख सकते हैं। अनेक बार भाषिकी सम्बन्धी शोध-लेख, वार्ताएँ, भाषण, संगोष्ठियों की उपलब्धियों आदि से भी इस प्रकार के तथ्य एकत्र किये जा सकते हैं।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उच्चारण एवं अर्थ की शुद्ध पहचान

शोधकर्त्ता को भाषिकी अध्ययन के लिए प्रारंभ में यह निर्णय कर लेना चाहिए कि उसका विषय पुस्तकों की सामग्री पर निर्भर है या क्षेत्र-कार्य पर। यदि उसे किसी भाषा के बोलचाल के स्वरूप का अध्ययन करना है, तो उस क्षेत्र में उसे पर्याप्त समय तक निवास करना चाहिए, जिस क्षेत्र की बोली का वह अध्ययन कर रहा है। शहर में बैठकर और क्षेत्र के कुछ लोगों को बुलाकर उनके "कथन" लिख लेने तथा उनके आधार पर उस बोली का विश्लेषण कर देने से अनुसंधान का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार के अध्ययन कितनी ही सावधानी से किए जाएँ, प्रायः अशुद्ध तथ्यों को प्रकाश में लाते हैं। क्षेत्र में कुछ समय निवास करने के पश्चात् उस बोली के उच्चारण एवं अर्थ-सम्बन्धों की सही पहचान संभव होती है।

लोक-साहित्य की भाषा

लोक जीवन में जो कथाएँ, वार्ताएँ, लोक-गीत आदि प्रचलित होते हैं, उनमें जो भाषा या बोली-रूप मिलते हैं, उनमें शब्दार्थ की एक दीर्घ परम्परा भी छिपी रहती है। अतः क्षेत्र में निवास कर लेने पर शोधार्थी बहुत सरलता से उन प्रयोगों को समझ सकता है जो परम्परागत हैं तथा समकालीन प्रयोगों से भिन्न हैं। लोक-साहित्य का संग्रह और संपादन भी बहुत हुआ है तथा उसका प्रकाशित रूप पुस्तकालयों में मिल जाता है। किन्तु शोधकर्त्ता को यह नहीं भूलना चाहिए कि उस संग्रह के पीछे भाषिकी दृष्टि बहुत कम रही होगी, साथ ही लोक-साहित्य के संग्रह-कर्त्ता भी अधिक पढ़े-लिखे या शोध-दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति ही हों, यह भी आवश्यक नहीं है। अतः इस दृष्टि से किया गया कार्य यदि सर्वांश में प्रामाणिक आधार मान लिया जाए और उसके आधार पर पुस्तकालय में बैठकर शोधकर्म कर लिया जाए तो शोधार्थी की समस्त उपलब्धियाँ अशुद्ध हो सकती हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि की अपेक्षा

भाषा या बोली से सम्बन्धित अनुसंधान करते समय शोधार्थी को यह तथ्य भी ध्यान में रखना चाहिए कि हर भाषा या बोली किसी-न-किसी भाषा-परिवार का ऐतिहासिक विकास होती है। अतः सामग्री एकत्र हो जाने पर विधिवत् अध्ययन करते समय उस विकास को भी ध्यान में रखना चाहिए तथा यथावश्यक उसे तुलना का विषय बनाना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि शोधार्थी ब्रजभाषा पर शोध-कार्य कर रहा है, तो उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि यह बोली आर्य-परिवार की भाषा है। ऐसी स्थिति में अपभ्रंश, प्राकृत एवं संस्कृत में उसके पूर्व रूपों की पहचान भी आवश्यक होगी। केवल शब्द-सम्बन्धी तुलना ही पर्याप्त नहीं मानी जानी चाहिए, बल्कि उसके व्याकरणिक परिवर्तनों पर भी ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कोश-निर्माण प्रविधि

भाषिकी-अध्ययन में कोश-निर्माण का कार्य भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। शब्द-सम्पदा के अनेक स्रोत होते हैं। क्षेत्रीय बोलियों के शब्दों का संचय लोक-साहित्य तथा क्षेत्र-कार्य की उपलब्धियों के माध्यम से सरलतापूर्वक किया जा सकता है। यह निश्चित है कि कोश-निर्माण के लिए शब्द-संकलन आवश्यक होता है। प्रत्येक शब्द को उसके शुद्ध उच्चारित रूप में ग्रहण किया जाए तथा उसके विभिन्न अर्थों को एकत्र किया जाए, फिर उनका कार्ड बनाकर वर्गीकरण किया जाए और इस प्रकार वर्गीकृत शब्दावली को विभिन्न अर्थों के साथ कोश-दृष्टि से प्रस्तुत किया जाए, तो उस भाषा या बोली के कोश का ऐसा मौलिक स्वरूप तैयार हो सकता है, जो उसके ऐतिहासिक विकास तथा व्यावहारिक स्वरूप को समझने में बहुत सहायक होगा। भाषिकी के क्षेत्र में यह कार्य अनेक शोधकर्त्ताओं की अपेक्षा रखता है, क्योंकि अभी भी अनेक बोलियों के कोशों का निर्माण नहीं हुआ है।

शब्द-संग्रहकर्त्ता का दायित्व

कोश-निर्माण के लिए शोधकर्त्ता को अनेक बार शोध-सहायक नियुक्त करने पड़ते हैं। प्रायः बेरोजगार स्नातक इस कार्य में नियुक्त कर दिये जाते हैं। उनका उद्देश्य समय-यापन और जीविका प्राप्त करना मात्र होता है। फलतः वे न तो उतना श्रम करते हैं जितना अपेक्षित है और न ही उतनी बुद्धि लगाते हैं या लगाने की क्षमता रखते हैं, जिसकी आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में शब्द-संग्रह ही अप्रामाणिक हो जाता है। अतः यह ध्यान रखना चाहिए कि शब्द-संग्रहकर्त्ता निम्नांकित निर्देशों का पालन करे :

1. वह निर्धारित वर्ग या क्षेत्र से ही ऐसे शब्दों का संग्रह करे, जो प्रचलित हों।
2. वह उस वर्ग या क्षेत्र के सभी क्रियाकलापों, रीति-रिवाजों, खान-पान, रहन-सहन आदि से निकट का परिचय प्राप्त करे तथा उन्हीं प्रयोगों का संचय करे।
3. शब्द जिस रूप में प्रयोग में आता हो उसी रूप में उसको लिखे।
4. जिन शब्दों का कहावत-मुहावरों में प्रयोग हुआ हो, उनकी अर्थ-व्यंजना को सही रूप में समझने की क्षमता विकसित करे।
5. जिस क्षेत्र के लोगों के शब्द-संग्रह करने हों, उनमें घुलमिल कर आत्मीयता से शब्दों की सही पहचान करे। सहानुभूति और सहयोग के बिना शुद्ध शब्द तक पहुँचना या सही अर्थ को पकड़ना कठिन होता है।
6. शब्दों के स्थानीय उच्चारण की पूर्ण रक्षा की जाए।
7. शब्द-संग्रह के लिए विषयानुसार अलग-अलग प्रपत्रों का प्रयोग करना चाहिए तथा पुनरुक्ति से बचना चाहिए।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कोश-निर्माण कार्य बहुत कठिन कार्य है, इसलिए प्रायः शोधकर्त्ता इस कार्य से बचने की चेष्टा करते हैं। लेकिन अगर सही प्रविधि अपनाई

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाए तो यह कार्य सरल भी हो जाता है। वस्तुतः संग्रह-कार्य ही कठिन है, जिसको सरल बनाने के लिए अनुभवी शोध-विद्वान डॉ. विनयमोहन शर्मा द्वारा प्रस्तावित निम्नांकित विषय-सूची अपनाई जानी चाहिए।

वृत्तियों की विषय-सूची

1. पेशे के औजार और सामग्रियाँ, उनके भेद और हिस्से। उदाहरणार्थ, हल, बैल, खेत, बीज आदि।
2. पेशे के ढंग और उनके काम आने वाले जानवर।
3. पेशे की सवारियाँ, उनके भेद, हिस्से।
4. पेशे के ढंग तथा उसकी विविध क्रियाओं और अवस्थाओं से सम्बन्ध रखने वाले शब्द (जैसे-जुताई, बुआई, खुदाई, सिंचाई, खाद देना, सोहनी, रखवाली करना)।
5. पेशे की पैदावार के भेद।
6. पेशे या पेशे की सामग्रियों की बाधाएँ और ऐब।
7. पेशे या पेशे की सामग्रियों को बढ़ाने या मदद पहुँचाने वाली चीजें।
8. खाने-पीने की सामग्रियाँ, उनके हिस्से, भेद और उनसे बनने वाली चीजें।
9. मसाले।
10. खाना बनाने की सामग्रियाँ।
11. घर के सामान, आसन, शैय्या आदि।
12. कपड़े-लत्ते और कपड़ों के नाम (छींट आदि)।
13. गहने और शृंगार के सामान।
14. पूजा-पाठ, इबादत की सामग्रियाँ और स्थान।
15. जमीन और मिट्टी के भेद।
16. मौसम, हवा, पानी, बादलों के भेद।
17. तौल और माप।
18. दूरी, दिशा और समयसूचक शब्द (घड़ी, मौसम आदि)।
19. घरेलू और पालतू जानवरों, उनके रंग-ढंग, रहने-सहने के भेद, रहने के स्थान, बीमारी, चारागाह, भोजनादि की सामग्री।
20. पशु-पक्षी तथा अन्य जीव (मछली आदि)।
21. घर-बाहर तथा जल-थल के कीड़े-मकोड़े (चींटे-चींटी, हड्डे, साँप, गोजर आदि)।
22. लेनदेन, माहवारी हिसाब।
23. जमीन के लगान और उसके भेद।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

24. घर, झोंपड़े और मंदिर-मस्जिद आदि के प्रकार, उनके हिस्से और बनाने की सामग्रियाँ (जैसे-छत, छप्पर-छवाई आदि)।
25. शादी-ब्याह के शब्द।
26. शादी-विवाह के रस्म-रिवाज :
    (क) हिंदुओं के,
    (ख) मुसलमानों के,
    (ग) क्रिस्तानों के।
27. (क) जात-कर्म :
        (1) हिंदुओं के
        (2) मुसलमानों के
        (3) क्रिस्तानों के
        (4) आदिवासियों के
    (ख) जनेऊ।
28. मृत्यु-संस्कार :
    (1) हिंदुओं के
    (2) मुसलमानों के
    (3) क्रिस्तानों के
    (4) आदिवासियों के।
29. सोहनी-रोपनी की संस्कार विधियाँ।
30. पंचायत, समझौता, शपथ आदि तथा मामले-मुकद्दमें संबंधी कचहरी के शब्द।
31. अंधविश्वास।
32. तिजारत और बाजार।
33. महाजन और कर्जदार के हिसाब-किताब।
34. जमींदार और किसान के हिसाब-किताब।
35. कर्ज, सूद, रेहन आदि।
36. व्रत, त्यौहार (तीज, छठ, होली, बकरीद, क्रिसमस आदि) और उनकी सामग्रियाँ।
37. रिक्शा, टमटम, फिटिन, मोटर और हवाई जहाज के हिस्से।
38. मारपीट और युद्ध के हथियार।
39. खेलकूद, आखेट, मनोविनोद, उनके भेद तथा तत्संबंधी सामग्रियाँ। (आँखमुंदौवल, कबड्डी, गोटी-चौपड़, शतरंज, कुश्ती, कसरत, अखाड़े, मनोविनोद-गुल्ली-डंडा, पतंग, कबूतरबाजी आदि)।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

40. गाली-गलौज।
41. आशीर्वाद, सद्भावना तथा शिष्टाचार।
42. नाच-गान, रामलीला के शब्द और गीत।
43. मजहब, जाति-पाँति के भेद।
44. फूल, फल, पेड़-पौधे, घास-फूस और उनके भेद।
45. बीमारियों के भेद।
46. घरेलू, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक, संबंधसूचक (माँ-बाप, भाई-बहिन, चाची, पड़ोसी)।
47. गुण, भाव, सुख-दुःख, रागद्वेष आदि मन के विकारों तथा अवस्थाओं के भेद और अन्य सांस्कृतिक और भावात्मक शब्द।
48. उत्पादक :

    (क) प्राकृतिक— भूचाल, आँधी।

    (ख) मानवीय— चोरी, डकैती, उसके भेद—व्यापार (सेंध आदि)

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

11

साहित्यिक अनुसंधान एवं समालोचना

यहाँ "अनुसंधान" तथा "समालोचना" शब्दों का प्रयोग साहित्यिक अर्थों में किया जा रहा है। साहित्यिक अनुसंधान का कार्य दो दृष्टियों से किया जाता है। कुछ ऐसे विद्वान होते हैं, जो साहित्य के अज्ञात सत्यों तक पहुँचने के लिए अनुसंधान में तल्लीन होते हैं, दूसरे वे जो किसी उपाधि की परीक्षा के लिए शोध-प्रबन्ध लिखते हैं। प्रथम प्रकार के शोध-कार्य से द्वितीय प्रकार का शोधकार्य स्तर, पद्धति और स्वरूप में पर्याप्त भिन्न होता है। अतः प्रस्तुत अध्याय में 'अनुसंधान' या 'शोध' शब्द का अर्थ द्वितीय प्रकार के कार्य तक सीमित कर दिया गया है। "समालोचना" शब्द भी दो अर्थों में प्रयुक्त होता है— प्रथम प्रकार की वह समालोचना है, जो स्वतन्त्र ग्रंथ के रूप में एक पूर्ण आकार के साथ प्रस्तुत की जाती है और द्वितीय प्रकार की वह समालोचना है, जो पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक-परिचय आदि के रूप में प्रकाशित होती है। "समालोचना" शब्द को अनुसंधान के साथ रखकर प्रस्तुत अध्याय में प्रथम अर्थ में देखना ही अभिप्रेत है। रूप, विवेचन-पद्धति तथा आकार आदि में द्वितीय प्रकार के शोध-कार्य से प्रथम प्रकार की समालोचना को ही बाह्य दृष्टि से कुछ ऐसी समानता रहती है जिसके कारण प्रायः शोधार्थी के भ्रमित होने का भय उत्पन्न हो जाता है। प्रस्तुत अध्याय में इन्हीं अर्थ-सीमाओं में अनुसंधान और समालोचना का पारस्परिक साम्य-वैषम्य स्पष्ट करना मुख्य साध्य है।

साहित्यिक अनुसंधान क्या है ?

साहित्य की रचना के मूल में भाव, कल्पना और विचार रहते हैं। इन तीनों की सूक्ष्म स्थिति से सम्पन्न साहित्य का अनुसंधान किस प्रकार संभव है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है। वस्तुतः कोई भी साहित्यिक सत्य जब परिष्कृत, प्रमाणित, संदेह-रहित और तथ्यपूर्ण होकर सामने आता है, तब वह अनुसंधान का परिणाम बनता है। खोजकर लाने के पश्चात् भी किसी पदार्थ में तब तक निर्मलता, प्रामाणिकता या निदर्शिता नहीं आ सकती, जब जक उसके अंगों का पृथक्-पृथक् अनुशीलन न कर लिया जाये। आज से 200

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वर्ष पूर्व लिखी गई किसी कृति की पाण्डुलिपि का पता लगा लेना खोज हो सकती है, उसके रचयिता के परिचय का उस कृति के माध्यम से अन्वेषण किया जा सकता है या बाह्य साक्ष्यों के अनुशीलन से भी उन तथ्यों की गवेषणा की जा सकती है, जिनसे इस सत्य तक पहुँचा जा सके कि अमुक व्यक्ति का, जो अमुक ग्रन्थ का रचयिता है, परिचय इस प्रकार है। किन्तु ये सब प्राप्त तथ्य तुलनात्मक विश्लेषण और सत्य की व्यापक दृष्टि की फिर भी अपेक्षा रखते हैं, जब तक उसके विषय में निर्मल और सन्देहहीन निर्णय उपलब्ध नहीं हो पाता। शोध इस अन्तिम सन्देह-हीन और निर्मल सत्योपलब्धि तक पहुँचने वाली प्रक्रिया का नाम है। अगरचन्द नाहटा, मुनि कान्तिसागर आदि कुछ विद्वान् पुरानी पाण्डुलिपियों का पता लगाने के लिए उत्सुक रहते थे। जब उन्हें 100-200 वर्ष पुरानी कोई जीर्ण-शीर्ण हस्तलिखित पुस्तक मिल जाती थी तब वे नई खोज के नाम से उसका मात्र उतना परिचय प्रकाशित करा देते थे, जितना उस पाण्डुलिपि से उन्हें प्राप्त होता था। इस प्रकार के परिचय में उपलब्ध कृति की आरम्भ और अन्त की कुछ पंक्तियाँ ज्यों की त्यों उद्धृत कर दी जाती थीं। नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर तथा विभिन्न राज्य सरकारों के खोज-विवरण भी इसी प्रकार के कार्य प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः यह शोध-कार्य नहीं है, खोज-कार्य हो सकता है। इस कार्य में "खोज" शब्द का अर्थ केवल किसी कृति के विलम्ब से उपलब्ध होने पर ही आधारित है, अन्यथा इतना कार्य तो जीवित लेखक की किसी अप्रकाशित कृति के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। प्रथम प्रकार के कार्य से द्वितीय प्रकार का कार्य केवल इसी अर्थ में भिन्न है कि प्रथम कार्य के माध्यम से प्रकाश में आने वाला लेखक कुछ वर्षों के पर्तों में समाधि ले चुका है और द्वितीय प्रकार के कार्य से प्रकाश में आने वाला लेखक अभी जीवित है। वस्तुतः यह खोज पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली सामान्य परिचयात्मक समीक्षा की ही सीमा में आती है। जब खोजी हुई पाण्डुलिपि की प्रामाणिकता का गवेषण करके उसके तथ्यों का अन्वेषण कर लिया जाए और तुलनात्मक दृष्टि से उन तथ्यों का अनुसंधान कर लिया जाये, तभी वह कृति प्रमाणित होती है और किसी शुद्ध निष्कर्ष पर पहुँच कर शोध का परिचय बनती है। इसलिए विश्वविद्यालयों में शोध के आधारभूत सिद्धान्तों में निम्नांकित बातों को सम्मिलित किया गया है :

(1) शोध-प्रबन्ध में ज्ञात तथ्यों की खोज अथवा ज्ञात तथ्यों और निष्कर्षों का नवीन दृष्टि से आख्यान होना चाहिए।

(2) शोध-प्रबन्ध में विवेचनात्मक विश्लेषण, परीक्षण और विश्वसनीय निष्कर्ष होना चाहिए।

(3) शोध-प्रबन्ध की स्थापना-पद्धति साहित्यिक दृष्टि से विश्वसनीय और संतोषप्रद होनी चाहिए।

(4) शोध-प्रबन्ध के निर्णय ऐसे होने चाहिएँ, जो ज्ञान-क्षेत्र की सीमा के विस्तार में सहायक हों।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपरोक्त सिद्धान्तों के अनुसार शोध का अर्थ बहुत व्यापक हो जाता है। इसमें खोज, गवेषणा, अनुसंधान, अन्वेषण, अनुशीलन, विश्लेषण, मूल्यांकन तथा समीक्षा या समालोचना शब्दों के अर्थ अंश बनकर समा जाते हैं। डा. उदयभानु सिंह ने शोध के स्थान पर अनुसंधान शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक अर्थ-पूर्ण माना है[1] किन्तु मैं उनके मत से सहमत नहीं हूँ, क्योंकि अनुसंधान का अर्थ पीछे लगाने, लक्ष्य बाँधने, लक्ष्य को खोज लाने तक ही सीमित है। यद्यपि शोध के समस्त अर्थ को उसमें स्थापित कर दिया है, किन्तु वस्तुतः अनुसंधान सत्य के निर्मल और संदेह-हीन पक्ष की उस स्थापना तक नहीं पहुँच पाता, जिस तक "शोध" शब्द पहुँचता है। यों अनुसंधान शोध का विरोधी नहीं है, किन्तु वह उस पूर्ण मार्ग का परिचायक नहीं है जिससे सत्योपलब्धि के पश्चात् निर्मल और संदेह-हीन ज्ञान का विस्तार होता है। यही कारण है कि उपाधि-परक अधिकांश अनुसंधान में "किसी महत्त्वपूर्ण सुनिश्चित विषय के तत्त्वाभिनिवंशी वैज्ञानिक अध्ययन, तत्सम्बन्धी तथ्यों के व्यवस्थित ढंग से अन्वेषण, निरीक्षण, परीक्षण तथा वर्गीकरण-विश्लेषण और उसके आधार पर प्रस्थापन-योग्य निष्कर्षों का प्रमाण-निर्देशपूर्वक तर्क-संगत उपसंस्थान"[2] होने पर भी वे ऐसे सत्यों को ही उभार कर रह जाते हैं, जिनसे कभी-कभी ज्ञान की हानि होती है, उसका स्वरूप जीवन-महत्त्व की दृष्टि से सदोष हो जाता है तथा उसके क्षेत्र की सीमा संकुचित होने लगती है। शोध में शोधन की दृष्टि अन्तिम सूत्र बनकर समस्त प्रक्रिया में समाई रहती है। अतः शोध शब्द ही उस उद्देश्य से ग्राह्य है, जिसके लिए विश्वविद्यालयों ने पूर्वांकित सिद्धान्त बनाये हैं।

समालोचना की व्याख्या

"समालोचना" किसी कृति की सम्यक् आलोचना करने की प्रक्रिया का नाम है। अज्ञात की खोज, फिर उसके अज्ञात तथ्यों का आख्यान, उस आख्यान के द्वारा अज्ञात सत्यों की प्राप्ति और उस सत्यान्वेषण का ऐसा विश्लेषण, जिससे ज्ञान-सीमा का निर्दोष विस्तार हो, "समालोचना" के अर्थ का विषय नहीं है, केवल इसका वह अंश समालोचना का विषय है, जिससे कृति का आख्यान होता है। तुलनात्मक समालोचना में उपलब्ध तथ्य की अन्य समान तथ्यों से तुलना भी की जा सकती है। किसी कृति का भली-भाँति अनुशीलन और अन्य कृतियों से उसकी तुलना में शोध के ज्ञान-विस्तार तक नहीं पहुँचाती, अतः समालोचना शोध की विस्तृत और व्यापक प्रक्रिया का एक अंग अवश्य है, किन्तु वह शोध की स्थानापन्न प्रक्रिया नहीं है।

उद्देश्यों का अन्तर

समालोचना हमें किसी एक कृति या कृतिकार के समस्त कृतित्व से परिचित करा सकती है, किन्तु कृतित्व की सुदीर्घ परम्परा में उस कृति या कृतिकार का सत्य-विस्तार की

1. देखिए, अनुसंधान का स्वरूप, डा. उदयभानुसिंह, पृष्ठ 13.
2. अनुसंधान का स्वरूप, डा. उदयभानुसिंह, पृष्ठ 13.

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दृष्टि से कितना महत्त्व है, यह बताना उसका उद्देश्य नहीं है। शोध ही हमें इस उद्देश्य तक पहुँचाती है। समालोचना में हम किसी कृति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, शोध में हम उस कृति की ज्ञान-क्षेत्रीय स्थापना का सत्य प्राप्त कर सकते हैं। साहित्य की परम्परा देश और काल के विस्तार के अनुसार विराट् और व्यापक है। उस परम्परा में किसी समालोचना के परिणाम से हम उसी प्रकार प्रसन्न या सहमत हो सकते हैं, जिस प्रकार किसी ग्रन्थ के किसी अंश को अपने मत के समर्थन के लिए उसे संदर्भ से तोड़कर अपने अर्थ में रखकर दूसरों को प्रभावित करना चाहते हैं। रावण के पाण्डित्य की तुलना में उसके अत्याचारी रूप को भूल जाते हैं। शोध का कार्य किसी उद्देश्य तक तभी पहुँचाता है, जबकि रावण को उसके सभी सन्दर्भों में रखकर परखा जा सके। समालोचना जिस तथ्य की ओर जाती है, वह अपने में पूर्ण होने पर भी ज्ञान के विराट् संदर्भ में अपूर्ण हो जाता है। शोध उसी अपूर्ण तथ्य को पूर्ण बनाती है। अतः समालोचना का उद्देश्य काल और देश की सीमाओं से संकीर्ण है, जबकि शोध का उद्देश्य उनको लाँघकर विराट् क्षेत्र से अपने सत्यों का संचय करना है। समालोचना का उद्देश्य किसी कृति या कृतिकार के महत्त्व को उठाना या गिराना भी हो सकता है, जबकि शोध का उद्देश्य उस महत्त्व को न उठाना है, न गिराना है, अपितु ज्ञान-विस्तार के क्षेत्र में रखकर उसका मूल्यांकन करना है। निष्पक्ष शोध का लक्ष्य होता है मानव-जीवन को आनन्दपूर्ण और सुन्दर बनाने वाले कृति-धर्म को प्रकाश में लाना, जिस तक समालोचना नहीं पहुँच पाती।

पद्धतियों का अन्तर

शोध का सूत्रपात तब होता है जब शोधार्थी के मन में किसी विषय के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न या शंकाएँ उत्पन्न होती हैं या ऐसी समस्याएँ सामने आती हैं जिनमें वह सुलझाना चाहता है। समालोचना इस स्थिति से आरम्भ नहीं होती। शोध में प्रश्न या शंका, समस्या आदि का एक ऐसा वस्तु-पर्वत शोधार्थी के सामने खड़ा होता है, जिसे वह पार कर लेना चाहता है और उसके फलस्वरूप वह एक निर्णय प्रस्तुत कर देता है। समालोचना में वह वस्तु-पर्वत समालोचक की प्रतिभा के नीचे दबा होता है, उसे उस पर विजय नहीं पानी होती और फलतः किसी मंजिल पर नहीं पहुँचना होता, अपितु यह सिद्ध करना है कि जो वस्तु या रचना उसकी प्रतिभा के कसाव में है, उसके समस्त विस्तार तथा निहित रचना-शक्ति को वह समझता है। शोधार्थी उस विस्तार को जानने के लिए अपनी अध्ययन-यात्रा आरम्भ नहीं करता, यद्यपि उस विस्तार को जानना उसके मार्ग की सहज क्रिया का अंग बन जाता है। वह मूलतः उस विस्तार के सम्बन्ध में अपने प्रश्नों, शंकाओं और समस्याओं के उत्तर खोजता है— ऐसे उत्तर जो उस विस्तार और उसमें निश्चित रचना-शक्ति से ही प्राप्त होते हैं। समालोचक कृति के विषय-विस्तार और निहित रचना शक्ति के सम्बन्ध में अपनी व्याख्याएँ देता है, जबकि शोधार्थी उन व्याख्याओं के सम्बन्ध में अपने मस्तिष्क में उठते प्रश्नों, शंकाओं और समस्याओं को ओर विशेष ध्यान देता है तथा उन्हीं के उत्तरों और समाधानों के लिए वस्तुनिष्ठ होकर अध्ययन में प्रवृत्त होता है। समालोचकीय कृति-व्याख्या उसका साध्य नहीं, साधन हो सकती है। समालोचक का अपने निर्णयों के प्रति आग्रह होता

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है, किन्तु शोधार्थी आग्रह नहीं रख सकता। जब तक वह स्वयं अपनी पद्धति और निर्णयों को एक तटस्थ व्यक्ति बनकर चुनौती नहीं दे सकता और उत्तर में उन पद्धतियों तथा निर्णयों को चुनौती की कसौटी पर खरा नहीं पा सकता, तब तक उसका कार्य शोध के क्षेत्र में नहीं आता। उसे सबसे पहले स्वयं इस बात के लिए आश्वस्त होना पड़ता है कि उसने जो पद्धति अपनाई है, वह पूर्णतः निष्पक्ष, तटस्थ तथा वस्तु-निष्ठ है एवं जो निर्णय प्रस्तुत किये हैं, वे पूर्णतः प्रामाणिक तथा विश्वसनीय हैं। उसे अपनी विचार-प्रक्रिया के प्रत्येक चरण की परीक्षा में खरा उतरना पड़ता है तथा सर्वत्र तार्किकता की रक्षा करनी पड़ती है। उसे तर्क के प्रत्येक चरण पर मिलने वाले प्रमाणों को स्वीकारते हुए अपने निष्कर्षों को परिमार्जित करना पड़ता है। समालोचक इस सबके लिए न तो प्रतिबद्ध होता है, न बाध्य ही। उसे कृति और कृतिकार को अपनी दृष्टि से देखना होता है, जबकि शोधार्थी को अपनी दृष्टि की सीमाएँ अस्वीकार करके शोध्य विषय से प्राप्त ऐसी दृष्टियाँ अपनानी पड़ती हैं, जो उसे तो प्रामाणिक प्रतीत हों ही, साथ ही जो प्रत्येक व्यक्ति की अपनी दृष्टि बनने की सामर्थ्य भी रखती हों। यही कारण है कि समालोचक जहाँ अध्येय वस्तु को किसी भी स्तर पर किसी भी दृष्टि से देखने के लिए स्वतन्त्र होता है, वहाँ शोधार्थी पद-पद पर प्रयुक्त दृष्टि तथा द्रष्टव्य वस्तु के प्रामाणिक सम्बन्ध के प्रति पूर्ण सावधान और सतर्क रहता है। अपने अध्ययन की प्रक्रिया से गुजरते समय जब उसे कोई ऐसा उत्तर मिलता है, जो उसे व्यक्तिगत रूप में पर्याप्त प्रसन्न तो करता है, किन्तु वह उसकी अध्ययन यात्रा का लक्ष्य नहीं है, वह उस उत्तर को अपनी उपलब्धि न मानकर कार्य में अग्रसर होने के लिए विवश होता है, जबकि समालोचक उस प्रसन्नकारक उत्तर के ही आस-पास घूमकर अपने अध्ययन की इतिश्री मान लेता है तथा आत्मोल्लासक कोई तथ्य न मिलने पर सम्पूर्ण कृति के सम्बन्ध में ऐसे निर्णय दे सकता है, जो किसी भी रूप में कृति-परक, प्रामाणिक तथा तर्कानुयायी न हों। उदाहरणार्थ, प्रसाद-कृत "कामायनी" शैव दार्शनिक महाकाव्य है। कवि ने उसमें मानव-जीवन के विकास पर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया है। स्वर्गीय श्री गजानन माधव मुक्तिबोध एक प्रगतिवादी समालोचक थे। आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से उनका कोई लेना-देना न था। अतः जब उन्होंने कामायनी का अध्ययन किया तो उन्हें कोई भी आत्मोल्लासक तत्त्व न मिला। मानव-जीवन और इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या के दर्शन न हुए, तो प्रसाद के काव्य-शिल्प पर खीझ उठे और उन्होंने कामायनी के सम्बन्ध में ऐसे निर्णय दे डाले, जिनका उस कृति की मूल अभिव्यक्ति से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। फलतः उनकी समालोचना पुस्तक "कामायनी : एक पुनर्विचार" कृति-परक, प्रामाणिक एवं तर्कानुयायी न होकर उनके व्यक्तिगत जीवन-दर्शन की व्याख्या बन गई है। समालोचक होने के कारण ही वे साहस के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक ऐसा कर सके हैं, अगर उन्हें शोधपरक परिणामों तक पहुँचना होता तो उन्हें वे सीमाएँ माननी पड़तीं, जो अध्येता के जीवन-दर्शन की नहीं, कृति में निहित जीवन-दर्शन को महत्त्व देती है।

अतः स्पष्ट है कि समालोचना की अपेक्षा शोध के निर्णय अधिक प्रामाणिक तथा वस्तु-परक पद्धति का अनुसरण करते हैं। उनमें वह शक्ति आ जाती है जिसके आधार पर शोध का समस्त अध्ययन तर्क के विषम आक्रमणों को झेलता हुआ अविश्वासों की

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अग्नि-परीक्षा में स्वर्ण-सा निखरता है, जबकि समालोचक का कार्य ऐसी किसी सिद्धि तक नहीं पहुँच पाता।

साहित्यिक शोध और समालोचना का वह अन्तर शोधक और समालोचक के रचनात्मक मार्गों को भी बदल देता है। समालोचक की रचना-प्रक्रिया अध्येय वस्तु (कृति) के पठन के पश्चात् मस्तिष्क में उतर आने वाली प्रतिक्रियाओं में आरम्भ हो जाती है और उन्हीं के विवेचन से वह पूर्ण भी हो जाती है जबकि शोधार्थी की कृति के पठन के पश्चात् अपना लेखन कार्य प्रारम्भ करने के लिए शोध-प्रक्रिया के दीर्घ वृत्त पर घूमना पड़ता है। उसे पहले अधीत वस्तु (कृति) के सम्बन्ध में एक प्रश्न, एक समस्या या शंका उठानी पड़ती है और निश्चय करना पड़ता है कि वह प्रश्न, समस्या या शंका निराधार नहीं है। तत्पश्चात् उस प्रश्न या समस्या को वह एक कल्पित विचार देता है। उदाहरणार्थ, कामायनी को पढ़कर समालोचक उसके विषय में तुरन्त अपनी व्याख्याएँ या मत व्यक्त कर सकता है, किन्तु शोधक ऐसा नहीं कर सकता। उसे कामायनी के सम्बन्ध में कोई समस्या या प्रश्न उठाना पड़ता है। उसका प्रश्न हो सकता है -- क्या कामायनी एक मनोवैज्ञानिक काव्य है ? अब वह इस प्रश्न को कल्पित विस्तार भी दे सकता है। अर्थात् वह कह सकता है— अगर कामायनी एक मनोवैज्ञानिक काव्य है, तो उसमें कौन-सा मनोविज्ञान कहाँ और किस रूप में प्रयुक्त हुआ है, समस्त काव्य में उसका निर्वाह हुआ है या नहीं, वह कामायनी का प्रस्तुत पक्ष है अथवा अप्रस्तुत पक्ष है, अगर अप्रस्तुत पक्ष है तो क्यों ? मनोविज्ञान ही उसमें आधार क्यों बनाया गया है, अन्य कोई आधार क्यों न माना जाये, आदि। शोधक की कल्पना एक-दूसरे प्रश्न-वृत्त पर भी घूम सकती है। वह यह भी सोच सकता है कि मान लीजिए, कामायनी एक मनोवैज्ञानिक काव्य ही है, पर उसमें भविष्य में श्रद्धा से उत्पन्न होने वाली अपनी सन्तान का मोह छोड़कर मनु पलायन क्यों करता है, अपने पति को घायल करा देने वाली सपली-तुल्य इड़ा की कामायनी स्वेच्छा-पूर्वक बिना कोई शंका किये अपना प्रिय पुत्र क्यों सौंप देती है, क्या ऐसी ही अन्य अनेक बातों को भी मनोवैज्ञानिक काव्य मान लेने पर कामायनी से कोई सन्तोष-जनक उत्तर मिल सकता है ? इन सभी प्रश्नों के विस्तार तक जाने की समालोचक को आवश्यकता नहीं होती। वह तो अपना एक मानदण्ड बना लेता है और उसी से हर प्रकार की कृति का मूल्यांकन करता रहता है। उदाहरणार्थ, शिवदानसिंह चौहान प्रगतिवादी मानदण्ड से हर कृति की समीक्षा करते हैं और डॉ. देवराज उपाध्याय का मुख्य मानदण्ड मनोविज्ञान-परक है। किन्तु शोधार्थी जब एक बार अपनी समस्या को कल्पना का विस्तार दे देता है, तो उसे उसके साथ तर्कों का जाल भी बिछाना पड़ता है और प्रत्येक कल्पना को वस्तु (कृति आदि) के विश्लेषण के साथ तर्क की कसौटी पर कसते हुए आगे बढ़ना अनिवार्य हो जाता है। उसके लिए उसे कृति में से तथ्य एकत्र करने पड़ते हैं। फिर उसे उन प्रमाणों की भी प्रामाणिकता परखनी पड़ती है तथा तथ्यों के सन्दर्भ में उभरते हुए सत्यों को एकत्र करना पड़ता है। इस प्रकार एकत्र तथ्यों को वह वस्तु निष्पक्ष होकर पुनः विश्लेषण की खराद पर चढ़ाता है और तब जो निष्कर्ष निकलते हैं, उन्हें अपनी उपलब्धि घोषित करता है। सौभाग्य से समालोचक इस समस्त वृत्त पर घूमने से

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मुक्त रहता है। वह तो रचना के ऊपर खड़ा-खड़ा जो कुछ देख पाता है, उसी को अपना निर्णय मान लेता है, अन्य लोग मानें या न मानें, किन्तु शोधक ऐसा निर्णय देना चाहता है, जो सबको मान्य हो।

इसे हम यों कह सकते हैं कि समालोचना में समालोचक के ज्ञान, रुचियों और पूर्वागत मान्यताओं का भी कृति पर प्रभाव पड़ता है। समालोचक को इसी कारण डॉ. नगेन्द्र ने अभिस्रष्टा कहा है। तुलसीदास ने जो कुछ लिखा, उसकी समालोचना करते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी ओर से बहुत कुछ मिला दिया तथा प्रगतिवादी समीक्षकों ने जब तुलसी के कृतित्व की समीक्षा की, तो उन्होंने उसमें से बहुत कुछ घटा दिया। समालोचना की पद्धतियों की यह वस्तु-परक-हीनता ज्ञान के विस्तार के स्थान पर कभी-कभी ह्रास में भी सहायक होती है। आजकल हिन्दी साहित्य में समालोचना की पक्षपातपूर्ण जो पद्धति चल रही है, उससे आज का अधिकांश महत्वपूर्ण साहित्य क्षय-ग्रस्त होता जा रहा है और अधिकांश महत्त्व-हीन कृतित्व राजनीति की नारेबाजी के आकाश में अपना स्वर-ध्वज लहरा रहा है। निश्चय ही समालोचना की पद्धतियों में जब वस्तु-परकता को स्थान नहीं मिलता, तब ज्ञान-सीमा के विस्तार के स्थान पर संकोच होने लगता है। शोध की पद्धति में वस्तु-परकता मुख्य है। जो शोध-कार्य वस्तु-परक नहीं, वह शोध-संज्ञा का अधिकरी ही नहीं है। हर शोधकर्त्ता को मूलतः समस्त पूर्वाग्रह-हीन होना पड़ता है। वास्तव में शोध-कार्य एक न्यायाधीश की निर्णय-पद्धति का अनुसरण करता है। कोई भी न्यायाधीश स्वानुभूति-परक होकर निर्दोष निर्णय नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए, किसी न्यायाधीश के सामने 'अ' की 'ब' द्वारा हत्या कर दी जाती है। शासन 'ब' को अपराधी बनाकर दण्ड-निर्णय के लिए न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत करता है। न्यायाधीश मौन होकर अभियोगी और अभियुक्त की पक्ष समर्थन हेतु कही गई बातों को सावधानी से अंकित करता है। इस प्रकार संकलित, विश्लेषित तथा विवेचित समस्त साक्ष्यों के आधार पर ही वह यह निर्णय निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत करता है कि 'ब' अपराधी है, अतः उसे मृत्यु-दण्ड या आजीवन कारावास दिया जाता है। वह चाहे तो अपने सामने हत्या होने के आत्मसाक्ष्य के आधार ही 'ब' को उपरोक्त दण्ड दे सकता है चूँकि 'ब' ने हत्या की है, यह तथ्य है, अतः दोनों ही दशाओं में न्यायाधीश का निर्णय सत्य है किन्तु निर्णय-पद्धति का अन्तर है। द्वितीय पद्धति का निर्णय निर्दोष होने पर भी पद्धति सदोश है। यह पद्धति निष्कर्ष या निर्णय के लिए सामग्री-परीक्षण की आवश्यकता पर बल नहीं देती। न्यायाधीश अपनी ओर से द्वितीय पद्धति के निर्णय के समर्थन में अनेक साक्ष्य दे सकता है, किन्तु वे साक्ष्य उसके अपने हैं। अतः उनसे प्रभावित न हो, यह संभव नहीं। एक घटना में न्यायाधीश अपने अनुभव के आधार पर सत्य का उद्‌घाटन कर भी दे, किन्तु उसी प्रकार की अन्य घटनाओं में वह उस द्वितीय पद्धति के निर्णय देने में कहाँ पक्षपात कर रहा है, कहाँ नहीं, कहाँ उसने अपराधी को वास्तव में देखा है, कहाँ नहीं— इसका निर्णय कौन करेगा ? इन संदेहों का शोधन हुए बिना उसका निर्णय शुद्ध कैसे माना जायेगा ? यही समस्या समालोचक के साथ भी है। जिस प्रकार आत्म-साक्ष्य के आधार पर मृत्यु-दण्ड देने वाला न्यायाधीश किसी निरपराधी को अपनी इच्छा होने पर दण्ड दे सकता है और अपराधी को छोड़ भी सकता है, किन्तु पर-साक्ष्य के आधार

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पर निर्णय देने वाला न्यायाधीश अपनी इच्छाओं का आरोप करने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार समालोचक आत्म-साक्ष्य के आधार पर जो निर्णय करता है, वे सदैव निर्दोष ही हों, यह आवश्यक नहीं। किन्तु शोधार्थी शोध की वस्तु-परक पद्धति से काम लेने के कारण निर्दोष निर्णय देने के लिए बाध्य होता है। अगर वह ऐसा नहीं करता, तो उसका शोध कार्य स्वीकार्य नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि समालोचक की कार्य-पद्धति में आत्म-परकता अधिक होने से निष्पक्षता का अभाव रहता है, जबकि शोध की पद्धति में वस्तु-परकता होने से पक्षपात के लिये अवकाश नहीं होता। जहाँ उसमें पक्षपात होता है, वहीं वह अपनी अर्थ-सीमा से बहिष्कृत हो जाती है।

आत्म-परकता के कारण ही समालोचना में कभी-कभी जो निर्णय दिये जाते हैं, वे अध्ययन के फलस्वरूप न दिये जाकर आरम्भ में ही प्रस्तुत कर दिये जाते हैं और उनके समर्थन में कृति के संदर्भ तोड़कर उदाहरण दिये जाते हैं। शोध-सामग्री में प्रस्तुतिकरण और विश्लेषण-विवेचन के पश्चात् ही सदा निष्कर्ष दिये जाते हैं।

समानता के तत्त्व : एकता का भ्रम

शोध और समालोचना दोनों का विषय साहित्यिक कृति या कृतिकार होता है। दोनों के लिए निरीक्षण-विवेचन की अपेक्षा रहती है। दोनों के लिए प्रतिभा, ज्ञान और रुचि के समान तत्त्व आवश्यक होते हैं। दोनों के लिए विषय से सम्बन्धित सन्दर्भों की विस्तृत और व्यापक जानकारी आवश्यक होती है। अतः कभी-कभी दोनों में समान कार्य का आरोप हो जाता है और सिद्धान्त रूप में दोनों के कार्य भिन्न होने पर भी व्यवहार में दोनों एक मान लिये जाते हैं। यह शोध-क्षेत्र का भ्रम है और समालोचना क्षेत्र का विवेक है। समालोचक अगर शोध के विश्लेषणों से अपने कार्य को अलंकृत करता है, तो उसका कार्य निर्दोष हो जाता है, किन्तु जब शोधार्थी समालोचना की पद्धति और स्तर तक अपने श्रम को सीमित कर देता है, तब वह जो भी निर्णय देता है, वे भ्रान्त हो जाते हैं तथा उनसे ज्ञान-परिधि विस्तार में सहायता उस सीमा तक नहीं मिलती, जिस सीमा तक शोध में मिलनी चाहिए। अतः शोध को समालोचना के समान न मानने का भ्रम त्यागकर उसकी सीमाओं को निर्दोष रखना परमावश्यक है।

उपसंहार

हिन्दी में साहित्य की शोध का जितना कार्य है, उसमें से अधिकांश अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु शोध और समालोचना को समान मानकर जिन लोगों ने कार्य किया है, वह निर्दोष नहीं है। कतिपय प्रकाशित (और अप्रकाशित भी) शोध-प्रबन्ध ऐसे हैं, जिनमें सामग्री-संकलन और विवेचन-विश्लेषण तो है, परन्तु उपलब्धियाँ नहीं है। कतिपय शोध-प्रबन्धों में केवल समालोचना करके आत्म-निर्णयों की स्थापना कर दी गई है, शोध विषय से निचोड़ कर वे निर्णय नहीं हुए। किन्तु ये सब समालोचना-प्रयास ही कहे जायेंगे। शोध का क्षेत्र इनसे सीमित नहीं होता।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

12

साहित्यिक अनुसंधान एवं पाठालोचन

साहित्य वाणी से शब्द और अर्थ के रूप में उत्पन्न होता है। कानों से सुनकर उसको प्राप्त किया जाता है। यह साहित्य की मौखिक प्रक्रिया है। जब लिखने की कला का आरंभ नहीं हुआ था, तब साहित्यिक रचनाएँ इसी रूप में बोली अर्थात् सुनाई जाती थीं और सुनने वाले उन्हें स्मरण करके दूसरों को सुनाते थे। लेकिन इस प्रकार कहने और सुनने के माध्यम से रचनाओं के स्वरूप में परिवर्तन भी आ जाता था। इसीलिए उस समय के ऋषियों ने इस बात पर बल दिया कि हर शब्द को शुद्ध पढ़ा या बोला जाये और उसे शुद्ध रूप में ही ग्रहण करके याद रखा जाये। वेद के मंत्रों को पढ़ने और याद रखकर दूसरों को सुनाने के लिए इस बात पर इसीलिए बहुत बल दिया गया कि जो अधिकारी हो वही वेद-मंत्र का उच्चारण करे और जो सुनकर ठीक याद रख सके, वही वेद-मंत्र पढ़े या सुने।

जब लिखने की कला का आविष्कार हो गया, तब लिखे हुए को पढ़ने की समस्या उत्पन्न हुई, क्योंकि लिखे हुए को ठीक रूप से पढ़ना आवश्यक था। जिसने लिखा, उसके उच्चारण का पता नहीं, फिर सही उच्चारण कैसे हो ? किसी शब्द को सही अर्थात् शुद्ध रूप में बोलने की जो परम्परा मिली, उसी को आधार मानकर उसका उच्चारण निश्चित किया गया। इस प्रकार निश्चित किये गये रूप में उस शब्द को सभी लोग समान ढंग से शुद्ध लिखें, यह सावधानी आवश्यक हो गई। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ यह समस्या बढ़ती ही चली गई। रचनाएँ हाथ से लिखकर राजाओं-सेठों के ग्रन्थागारों में सुरक्षित की जाने लगीं। अलग-अलग परिवारों में भी जिन्हें रुचि हुई, किसी भी साहित्यिकार की रचना को सुरक्षित रख लिया गया। वे सभी रचनाएँ, जो इस प्रकार नष्ट होने से बच गयीं, हमें पढ़ने को मिल रही हैं। हिन्दी के सभी पुराने कवियों— जैसे, चंदबरदायी, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, बिहारी आदि की रचनाएँ इसी प्रकार हाथ से लिखकर लोगों ने सुरक्षित रखी थीं।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस प्रकार हाथ से लिखी हुई रचनाएँ पाण्डुलिपियाँ कहलाती हैं। इन रचनाओं के लिपिकर्त्ता अलग-अलग होते हैं। एक ग्रन्थागार में किसी साहित्यिक रचना की जो पाण्डुलिपि मिलती है, दूसरे ग्रन्थागार में उसी लिपिकर्त्ता की पाण्डुलिपि मिले, यह आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए, मीराबाई के पदों की पाण्डुलिपियाँ अलग-अलग ग्रन्थागारों या संग्रहालयों में अलग-अलग लिपिकर्त्ता द्वारा लिखी मिलती हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनके लिखित रूप में अन्तर है। लिखित रूप को शोध के क्षेत्र में "पाठ" कहते हैं। इसलिए लिखे हुए रूपों का यह अन्तर ही पाठान्तर या पाठ-भेद कहलाता है। यह पाठ-भेद जब तक रहेगा, तब तक उस रचना का सही या शुद्ध रूप सामने नहीं आ सकता। इसलिए साहित्यिक शोध करने वाले को पहले पाण्डुलिपि का यह पाठ-भेद मिटाना पड़ता है। जब भेद मिटाकर शोधार्थी एक शुद्ध रूप निर्धारित करता है, तब इस कार्य को पाठ का आलोचन अर्थात् पाठालोचन कहते हैं। अतः साहित्यिक शोध का कार्य ही तब तक आरंभ नहीं हो सकता, जब तक शोधार्थी पाठालोचन करके शुद्ध पाठ निर्धारित न कर ले। यही कारण है कि पाण्डुलिपियों के रूप में मिलने वाले साहित्य के अनुसंधान के लिए पाठालोचन की प्रक्रिया अत्यन्त आवश्यक और महत्वपूर्ण है। पाठालोचन के बिना हम अर्थ का अनर्थ कर सकते हैं।

यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि "पाठ" का अर्थ केवल पढ़ना ही नहीं है, बल्कि जो लिखा हुआ है, वह लिखित रूप भी "पाठ" है। इसे अंग्रेजी में टैक्स्ट (Text) कहते हैं। पाठालोचन टैक्स्चुअल क्रिटिसिज्म कहते हैं। इस "पाठ" शब्द में "आलोचना" शब्द जोड़कर "पाठालोचन" नाम से एक शैली या विधा बनी है। साहित्य के विद्यार्थी को इस शैली को एक विशेष कला मानकर समझना चाहिए। इस कला में जो परीक्षार्थी प्रवीण (कुशल) हो जाता है, वही साहित्य को सही ढंग से समझ और समझा सकता है।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पाठालोचन केवल हाथ से लिखी पुरानी रचनाओं का ही नहीं किया जाता, छपी हुई साहित्यिक पुस्तकों की शोध के लिए भी पाठालोचन की आवश्यकता होती है। इसका कारण यह है कि लेखक (साहित्यकार) अपने हाथ से अपनी रचना लिखकर प्रेस में भेज देता है। वहाँ यह छपती है, तो प्रूफ देखने वाले की असावधानी से उसके शब्दों के रूप में परिवर्तन होने की संभावना रहती है। जैसे, एक प्रूफ-रीडर ने "शर्मा" को "सर्मा" दूसरे ने "सरमा" कर दिया और वैसा ही छप गया। फल यह हुआ कि कविता का अर्थ ही बदल गया क्योंकि शर्मा ब्राह्मण को कहते हैं और "सर्मा" या "सरमा" कुत्ते को कहते हैं। आधुनिक लेखकों की रचनाओं के साथ यह अन्याय कभी-कभी बहुत भयंकर हो जाता है। एक रचना का वाक्य था—"जिसे जाना हो, सो जाए।" प्रेस में "सो" को "जाए" से मिला दिया। हो गया—"जिसे जाना हो सोजाए।" फलतः जाने वाला सो गया। अगर हम शुद्ध पाठ को निर्धारित किये बिना शोधकार्य करेंगे, तो इसी प्रकार सही ज्ञान भी सोजाएगा। स्पष्ट है कि साहित्यिक शोधक और पाठालोचन का चोली-दामन का साथ है। इसके बिना हम सत्य तक नहीं पहुँच सकते।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वास्तव में पाठालोचन आज एक शास्त्र या विज्ञान बन चुका है। जिस प्रकार किसी शास्त्र में पूर्व निर्धारित सिद्धान्त या नियम होते हैं, उसी प्रकार पाठालोचन में भी नियम रहते हैं। जहाँ वे नियम पूरे या खरे नहीं उतरते, वहाँ प्रयोग करके नये नियम बनाने पड़ते हैं। इसलिए पाठालोचन विज्ञान भी है। इस शास्त्र का सही ज्ञान साहित्यिक शोध के लिए बहुत आवश्यक है। इसलिए शोध-निर्देशक (गाइड) बनने से पहले पाठालोचन का जान लेना एक शर्त होनी चाहिए।

पाठालोचन के लिए भाषा और लिपि का अच्छा ज्ञान भी होना चाहिए। जिस भाषा की पाण्डुलिपि है, उसके शब्दों के तत्सम और तद्भव रूप जानना अत्यन्त आवश्यक है। उदाहरण के लिए, हिन्दी भाषा की पाण्डुलिपि को पढ़ने के लिए हिन्दी के प्राचीन रूपों को जानना आवश्यक है। हिन्दी के मध्यकालीन साहित्यिक रूप थे—ब्रजभाषा, अवधी, बुंदेली, डिंगल, पिंगल आदि। जो शोधार्थी इन रूपों का सही ज्ञान नहीं रखता, वह शुद्ध पाठ निर्धारित नहीं कर सकता। साथ ही यह भी आवश्यक है कि उसे संस्कृत तथा उर्दू का भी अच्छा ज्ञान हो। आजकल इस प्रकार के विद्वानों की बहुत कमी हो गई है। इसलिए उनके शिष्य भी सही पाठ को निर्धारित करके किसी भी साहित्यिक रचना को शुद्ध रूप में नहीं पढ़ पाते। शोधार्थी को चाहिए कि वह इन अभावों को पूरा करे। उसे मध्यकालीन हिन्दी रूपों तथा संस्कृत एवं उर्दू का सामान्य ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए।

भाषा के साथ ही साथ लिपि के पुराने रूपों को जानना भी बहुत आवश्यक है। देवनागरी या नागरी लिपि भारत की बहुत पुरानी तथा वैज्ञानिक लिपि है। यह केवल हिन्दी की ही नहीं, वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, मराठी आदि भाषाओं की भी लिपि है। इस लिपि का विकास किन-किन रूपों में हुआ है, यह भी साहित्यिक शोध करने वाले के लिए बहुत आवश्यक है। लिपि-रूपों का ज्ञान प्राप्त किये बिना वह पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों को पढ़ ही नहीं सकता।

लिपि में अक्षरों की तरह ही अंकों का भी विशेष महत्त्व है। अंकों में पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों का समय दिया जाता है, रचनाकारों की जन्म एवं मृत्यु की तिथियाँ बताई जाती हैं तथा लिपि का समय भी दिया जाता है। इसलिए यह भी बहुत आवश्यक है कि हम देवनागरी के अंकों के वर्तमान तथा प्राचीन रूपों को पहचानें। आजकल अंग्रेजी की रोमन लिपि के ही अंक चल रहे हैं और विद्यालयों में भी देवनागरी अंक सिखाने की प्रथा बद होती जा रही है। इस प्रकार की शिक्षा से हमारे अंक ही भुला दिए जाएँगे, जिसका फल यह होगा कि हम अपने पुराने ग्रन्थों के अंक नहीं समझ पाएँगे। अतः इस दिशा में भी सावधानी की आवश्यकता है।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि साहित्यिक शोध के लिए पाठालोचन एक अत्यन्त आवश्यक शास्त्र है जिसे हर शोधार्थी को जानना चाहिए।

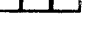

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

13

पाण्डुलिपि-सम्पादन

पाण्डुलिपि का अर्थ

मानव जाति का अधिकांश इतिहास लिपि के आविष्कार के कारण सुरक्षित है। जब तक यह आविष्कार नहीं हुआ था, तब तक श्रव्य एवं दृश्य साधनों का सहारा लिया जाता था। ये साधन स्मृति और विवेक की विशेष परम्परा पर निर्भर थे। लिपि का साधन प्राप्त हो जाने पर, मनुष्य ने अतीत और वर्तमान के जीवन की विविध संग्रहणीय घटनाओं, भावनाओं और विचारणाओं को लिखित रूप देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार मनुष्य के समस्त साहित्यिक, सांस्कृतिक, कलात्मक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा ज्ञान-दर्शन-सम्बन्धी प्रयत्न लिपिबद्ध हुए। उनके इस लिपिबद्ध स्वरूप को ही आज हम "पाण्डुलिपि" की संज्ञा देते हैं।

यद्यपि "पाण्डुलिपि" का मूल अर्थ है— लेख आदि का पहला रूप, तथापि अधुनातन हर प्रकार की हस्तलिखित सामग्री को "पाण्डुलिपि" कहा जाता है।

अर्थ-विस्तार का इतिहास

लिपि के आविष्कार के पश्चात् मनुष्य ने संग्रहणीय विवरणों को विभिन्न पटलों पर अंकित करना आरम्भ किया। भारत में सबसे प्राचीन लिपिचिह्न मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा की संस्कृति में मिलते हैं। इन दोनों स्थानों की खुदाई में कुछ ऐसी मुद्राएँ, ताँबे की टिकियाँ तथा मिट्टी के बर्तनों के खण्ड प्राप्त हुए हैं, जिन पर एक विशेष लिपि में कुछ विवरण अंकित हैं। सर जॉन मार्शल के अनुसार, "सिन्धुघाटी के लेखक मिट्टी की टिकियों के समान अन्य सामग्री के अभाव में, मिट्टी के स्थान पर भोजपत्र, ताड़पत्र, वृक्षों की छाल, लकड़ी अथवा कपसिपट जैसी अल्पजीवी सामग्री का उपयोग करते होंगे, जो कालान्तर में स्वाभाविक रूप में नष्ट हो गयी होगी।"[1] एक अन्य विद्वान मैकी ने अपनी "इण्डस सिविलिजेशन" नामक पुस्तक में यही बात कुछ इस प्रकार दोहराई है :

1. सर जान मार्शल, मोहेंजोदड़ो, पृष्ठ 1-40.

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

"मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा नामक दो नगरों के उत्खनन में न्यूनाधिक गहराई में जो विभिन्न वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, उन सब पर एक-सी ही लिपि दिखाई देती है। इस लिपि में लिखित एक भी लम्बा प्रलेख उपलब्ध न होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि इस युग के लोग चमड़े, लकड़ी या पत्तों पर लिखते होंगे, जो आर्द्र एवं क्षारयुक्त भूमि-प्रभाव से काफी समय पूर्व नष्ट हो गये होंगे।"[1]

इस प्रकार प्रारम्भ में लिपि के माध्यम से जो कुछ सुरक्षित रखने की चेष्टा की गयी, उसके लिए भोजपत्र, ताड़पत्र, वृक्षों की छाल, लकड़ी आदि के पटल काम में लाये गये। इन वस्तुओं पर जो लेख अंकित किये गये, वे ही इस समय की पाण्डुलिपियाँ थे। डॉ. कत्रे का मत है कि "ई. पू. चौथी शताब्दी के अन्तिम चरण के नीरकोस के कथन के अनुसार, हिन्दू लोग तैयार किये गये मजबूत कपड़े पर लिखते थे तथा क्यू. क्यूर्टिस की टीप में इस सम्बन्ध में वृक्षों की कोमल छाल का उल्लेख मिलता है जो प्राचीन समय में भोजपत्र के उपयोग के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से संकेत करता है। ये दोनों विवरण ई.पू. 327-325 में भारत में लिखने के लिए दो भिन्न प्रकार की स्वदेशी सामग्री के प्रचलन का उल्लेख करते हैं। इसी तरह प्राचीन भारतीय शिलालेखों की लिपि के परीक्षण-निरीक्षण के निष्कर्ष भी उन साहित्यिक साक्ष्यों के अनुरूप हैं, जिनके अनुसार, जैसा कि हमें ज्ञात हुआ है, ई. पू. पाँचवीं शताब्दी या उसके पहले से ही भारत में बड़े पैमाने पर लेखन-कला का प्रसार था।"[2]

लेखन-कला का प्रारम्भ कब हुआ, इस पर विचार करते हुए डॉ. कत्रे ने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनसे हम यह तात्पर्य निकाल सकते हैं कि भारत में प्राचीन काल में वे सभी लेख "पाण्डुलिपि" की पूर्ण सीमा में सम्मिलित थे, जो कपड़े, वृक्षों की छाल, भोजपत्र, ताड़पत्र, पाषाण, धातु आदि किसी भी प्रकार के पटल पर अंकित किए जाते थे।

ऐतिहासिक और प्राकृतिक संघर्षों को झेलकर मानव-प्रयास के फलस्वरूप प्राचीन-काल की जो लिखित सामग्री आज तक सुरक्षित रह सकी है, उसमें भोजपत्र, कपसिपट, काष्ठपट्ट, ताड़पत्र, पाषाणखण्ड एवं कागज का उपयोग किया गया है। भोजपत्र पर खरोष्ठी लिपि में लिखित "धम्मपद" ग्रन्थ मिला है। कपसिपट पर सातवाहन-युग में ग्रन्थ लिखे जाते थे, ऐसा डॉ. कत्रे का मत है। वे लिखते हैं कि "श्री बूलहर को जैसलमेर में रेशमी कपड़े का एक टुकड़ा मिला, जिस पर स्याही से जैनसूत्र सूचीबद्ध किये गये हैं तथा श्री पीटरसन को वि.सं. 1418 (1351-52 ई.) में अनहिलवाड़ पट्टन में कपड़े पर लिखित एक हस्तलिखित ग्रन्थ मिला।"[3] विनयपिटक तथा जातकों में काष्ठपट्ट के प्रयोग का उल्लेख पाया जाता है। असम में एक काष्ठपट्ट-लेख मिला है, जो ऑक्सफोर्ड के बोडलियन संग्रहालय में सुरक्षित है। ह्वेनसांग ने ताड़पत्रों पर लेख अंकित करने का उल्लेख किया है।

1. मैकी, इण्डस सिविलिजेशन, पृ. 13.
2. डॉ. कत्रे, भारतीय पाठालोचन की भूमिका (अनुवाद), पृ. 4-5.
3. डॉ. कत्रे, भारतीय पाठालोचन की भूमिका, पृष्ठ 6.

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आज भी भारत तथा बाहर के कुछ संग्रहालयों में ताड़पत्र पर लिखित ग्रन्थ सुरक्षित हैं। धातुओं के पत्रों पर अनेक प्राचीन दानपत्र आज भी उपलब्ध होते हैं। प्रशंसापत्र भी धातुपत्रों पर लिखे हुए मिले हैं। इन धातुपत्रों में अधिकांशतः ताम्र धातु का उपयोग किया गया है। पाषाणों पर अशोक के समय से ही अनेक लेखों का मिलना प्रारम्भ हो जाता है। साहित्यिक ग्रन्थ भी पाषाणों पर अंकित मिलते हैं। उदाहरण के लिए, अजमेर के निकट पत्थरों पर विग्रहराज चतुर्थ तथा उसके दरबारी मन्त्री सोमदेव के नाटकों के अंश मिले हैं, बिझोली में पत्थरों पर जैनियों का "स्थल पुराण" ग्रन्थ लिखा हुआ मिला है तथा राजसमंद (उदयपुर) के जलबन्ध पर लगी शिलाओं पर राजप्रशस्ति महाकाव्य पाया गया है। कागज पर लिखित ग्रन्थ तथा अन्य सामग्री 12वीं शताब्दी के लगभग मिलना प्रारम्भ होती है। उस समय से अब तक कागज पर ग्रन्थ लिखने की प्रथा भी निरन्तर चल रही है।

अतः पाण्डुलिपि की अर्थसीमा भोजपत्र, ताड़पत्र, काष्ठपटल, कपसिपटल, धातुखण्ड, पाषाण से चलती हुई कागज तक आयी है। यद्यपि आजकल अधिकांश पाण्डुलिपियाँ कागज पर लिखी हुई मिलती हैं, तथापि अन्य साधनों पर अंकित पाण्डुलिपियों का प्राप्त होना भी असम्भव नहीं है। पाण्डुलिपि-सम्पादक को पूर्वोक्त किसी भी पटल पर अंकित पाण्डुलिपि मिले, सम्पादन का कार्य करना होता है।

प्रतिलिपि भी पाण्डुलिपि

अर्थसीमा का पूर्वोक्त विस्तार साधन के प्रसंग में हुआ है, किन्तु एक दूसरा प्रसंग भी है, जिसमें पाण्डुलिपि की अर्थसीमा का अत्यधिक विस्तार हुआ है। प्रारम्भ में लेख आदि का पहला रूप ही पाण्डुलिपि था, किन्तु धीरे-धीरे एक पाण्डुलिपि की कई प्रतिलिपियाँ होने लगीं, क्योंकि उस समय छपाई की व्यवस्था नहीं थी। राजा और जागीरदार अपने मनोरंजन और ज्ञानवर्द्धन के लिए प्रसिद्ध कवियों और लेखकों के मूल ग्रन्थों की हस्तलिपि प्रतियाँ तैयार कराने लगे। इस प्रकार एक-एक ग्रन्थ की अनेकानेक प्रतिलिपियाँ प्रतिलिपियों के आधार पर तैयार होती रहीं। आज ऐसी जितनी हस्तलिखित प्रतियाँ संग्रहालयों या व्यक्तियों के पास उपलब्ध हैं, उन सबको "पाण्डुलिपि" कहते हैं। अतः पाण्डुलिपि की अर्थसीमा मूल से नकल तक जा पहुँची है और हर हस्तलिखित पुस्तक पाण्डुलिपि कही जाने लगी है।

पाण्डुलिपि-सम्पादन

किसी कवि या लेखक (साहित्यकार, इतिहासकार, दार्शनिक आदि) की मूल रचना जब प्रथम बार लिपिबद्ध की जाती है, तब उसके दो रूप हो सकते हैं :

1. रचनाकार का अभीष्ट रूप,
2. लिपिकर्त्ता द्वारा प्रस्तुत उस अभीष्ट रूप का प्रथम रूप।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि रचनाकार स्वयं अपनी रचना लिपिबद्ध करता है तो वह यथाशक्ति उसे शुद्ध रखने की चेष्टा करता है। उसकी लिपि में यदि कोई त्रुटि रह जाती है, तो उसके दो कारण हो सकते हैं :

1. रचनाकार का अज्ञान,

2. रचनाकार की असावधानी।

यदि रचनाकार किसी प्रकार की असमर्थता के कारण अपनी रचना को स्वयं लिपिबद्ध नहीं कर पाता तो किसी लिपिकार का सहारा लेता है। जब वह लिपिकार उसकी कृति को प्रथम बार लिपिबद्ध करता है, तब उसकी निम्नांकित सीमाएँ रचना की शुद्ध पाण्डुलिपि निर्मित होने में बाधक हो जाती है :

1. रचनाकार का उच्चारण-दोष— क्योंकि वह जैसा बोलता है, वैसा ही लिपिकर्त्ता लिख सकता है।

2. लिपिकार का श्रवण-दोष— कभी-कभी लिपिकार अपनी श्रवण-शक्ति के दोष के कारण रचनाकार के कथन को यथावत् ग्रहण नहीं कर पाता और अन्यथा अंकित कर लेता है।

3. लिपिकार का भाषा-ज्ञान— कभी-कभी ऐसा होता है कि लिपिकर्त्ता रचनाकार की तुलना में अधिक या कम भाषा-ज्ञान रखता है। जब लिपिकर्त्ता का ज्ञान अधिक होता है, तब वह रचनाकार के कथन को अपनी बुद्धि से यत्र-तत्र संशोधित करता हुआ प्रस्तुत कता है और जब भाषाज्ञान कम होता है, तब ठीक सुन लेने पर भी वह अशुद्ध रूप में अंकित कर देता है।

4. क्षेत्रीय प्रभाव— लिपिकर्त्ता और रचनाकार जब भिन्न क्षेत्रों के निवासी होते हैं, तब उनकी क्षेत्रीय बोलियों का अन्तर भी लिपिकर्त्ता के कार्य पर प्रभावी हो जाता है और सहजता से रचना के अभीष्ट रूप में अन्तर आ जाता है।

इन सीमाओं के कारण पाण्डुलिपि में अनेक अशुद्धियाँ समय के साथ बढ़ती और बदलती चली जाती हैं। प्रत्येक हस्तलिखित प्रति मुद्रण के अभाव में जब दूर-दूर तक नकल के माध्यम से पहुँचती है, तब उसके मूलरूप का अनेक बार रूपान्तरण हो जाता है। प्राचीन काल से अब तक यह परिवर्तन-प्रक्रिया चलती आयी है। जो पाण्डुलिपि प्रथम बार तैयार की गयी थी, वह यदि नष्ट हो गयी, तब शुद्धता का प्रमाण जुटाना भी असम्भव हो जाता है। यदि वह नष्ट न भी हो, तो भी यह तय करना एक समस्या हो जाती है कि मूल पाण्डुलिपि कौन-सी है और उसका निर्णय किस प्रकार किया जाये? इस दुष्कर कार्य को ही पाण्डुलिपि-सम्पादन कहते हैं। इस कार्य के अन्तर्गत एक ही पुस्तक की विभिन्न पाण्डुलिपियों को एकत्र करके उस प्रति के मूल रूप का निर्णय करना होता है। एक पुस्तक की जितनी हस्तलिखित प्रतियाँ होती हैं, उनसे अशुद्ध अंशों को ही नहीं निकालना पड़ता, अपितु रचनाकार के अभीष्ट अंश का निर्धारण भी प्रमाणपूर्वक करना पड़ता है। इस कार्य

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के लिए विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों से समस्त उपलब्ध साक्ष्यों का निर्वाचन एवं नियन्त्रण करना होता है, जिससे मूल रचना की प्रामाणिकता सिद्ध की जा सके। इस प्रकार रचनाकार के मूल शब्द क्या थे, उनका पुनर्निधारण करना ही पाण्डुलिपि-सम्पादन का मुख्य कार्य है।

कला या विज्ञान

पाण्डुलिपि-सम्पादन को कुछ लोग विज्ञान मानते हैं। उनका मत इस तर्क पर आधारित है कि पाण्डुलिपि के मूल रूप का निर्धारण करने के लिए वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग करना पड़ता है। वास्तव में पाण्डुलिपि-सम्पादन का कार्य एक कला है। इस कार्य में बुद्धि और तर्क के प्रयोग की निश्चित सीमाएँ हैं, क्योंकि अनुमान भी बहुत दूर तक उनके साथ चलता है। फिर मूल रूप के निर्धारण में जो पद्धति अपनायी जाती है, वह विश्लेषण की उतनी अपेक्षा नहीं रखती, जितनी कलात्मक अभिरुचि पर आधारित होती है। पाण्डुलिपि-सम्पादन को बहुत सावधानी से वे साक्ष्य एकत्र करके क्रमबद्ध करने होते हैं, जो उसे रचना के मूल रूप तक पहुँचा सकें। यह कार्य विज्ञान की अपेक्षा कला के अधिक निकट है। विभिन्न पाण्डुलिपियों में कभी-कभी बहुत भ्रामक एवं परस्पर-विरोधी अंश अंकित मिलते हैं। उनमें से किसी एक अंश का चयन करना बड़ा कठिन कार्य होता है। यह कार्य विज्ञान के फार्मूलों जैसी किसी पद्धति से पूर्ण नहीं हो सकता। सम्पादक बुद्धि के उचित उपयोग के साथ अनेक कलात्मक पद्धतियों का सहारा लेकर मूल के निकटतम पाठ का निर्धारण करता है। वैज्ञानिक पद्धति से यदि पाण्डुलिपि का सम्पादन किया जाये तो कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि सम्पादक एक ऐसा रूप ही निर्धारित कर डाले जो मूल रूप के ठीक विपरीत हो। अतः मेरे मत से पाण्डुलिपि-सम्पादन का कार्य एक कला है, विज्ञान नहीं। इस कार्य में ऐतिहासिक अध्ययन की पद्धति का बहुत अधिक प्रयोग आवश्यक होता है।

पाण्डुलिपि-सम्पादन का कार्य जितना कठिन है, उतना कठिन कोई भी अन्य ज्ञानकार्य नहीं है। पिछले पृष्ठों में हम इस कार्य को एक कला मानने को बाध्य हुए हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि यह कार्य जिस विधि से किया जाता है, उसको देखते हुए वह एक कला की भी कला है। कलाकार अपनी रचना में स्वतन्त्र होता है, इसलिए वह उसमें आनन्द का आस्वाद प्राप्त करता है, किन्तु पाण्डुलिपि-सम्पादक स्वतन्त्र कलाकार नहीं है। वह मूल रचना की अज्ञान सीमाओं में सम्भावनाओं के आधार पर कार्य करता है, इसलिए उसके कार्य में वह रोचकता नहीं आ पाती, जो उसे आस्वाद्य बनाये। विज्ञान की प्रक्रिया भी जटिल होती है, किन्तु उसमें भी वैज्ञानिक बराबर रोचकता का अनुभव करता रहता है, क्योंकि एक प्रयोग का परिणाम दूसरे प्रयोग के परिणाम का मार्ग प्रशस्त करता है तथा रोचक कारण-कार्य परम्परा नहीं होती, साथ ही उसे अपने परिणामों के लिए विज्ञान की तरह भविष्य की ओर भी दृष्टि नहीं रखनी होती। वह अनिवार्यतः अतीत की ओर लौटता है। वह अनेक पाण्डुलिपियों के भीतर से गुजरता हुआ एक ऐसी पाण्डुलिपि तक पहुँचना चाहता है, जो

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसका अभीष्ट लक्ष्य होती है। यहाँ एक तथ्य पूर्व निर्धारित है, उसे अनेक तथ्यों में से होकर प्राप्त करना होता है। विज्ञान में एक या अनेक तथ्यों से नये तथ्य, प्रमाण तथा परिणाम प्राप्त करने होते हैं। अतः वैज्ञानिक प्रणाली पाण्डुलिपि-सम्पादन में समग्रतः प्रयुक्त नहीं की जा सकती। यदि उसका पाण्डुलिपि-सम्पादन में कोई उपयोग है तो वह केवल यत्र-तत्र वैज्ञानिक बुद्धि के प्रयोग तक ही सीमित है।

सम्पादन-योग्यता

पाण्डुलिपि-सम्पादन का कार्य वास्तव में बहुत कठिन कार्य है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कितना ही विद्वान क्यों न हो, इस कार्य को सरलता से नहीं कर सकता। अतः उन्हीं व्यक्तियों को यह कार्य आरंभ करना चाहिए, जिनमें निम्नांकित योग्यताएँ हों :

1. अभिरुचि— पाण्डुलिपि-सम्पादन के लिए मूलतः विषय के प्रति गहरी अभिरुचि आवश्यक है। जब तक सम्पादक सम्पादन-कार्य में उसी प्रकार की रुचि नहीं रखता, जिस प्रकार की रुचि एक खिलाड़ी की खेल के प्रति होती है, तब तक वह इस कार्य में पूर्ण तन्मयता से लगकर किसी सिद्धि तक नहीं पहुँच सकता।

2. लिपिज्ञान— पाण्डुलिपि को सही ढंग से पढ़ सकने के लिए सम्पादक को सम्बन्धित लिपि के ऐतिहासिक परिवर्तनों का पूर्ण ज्ञान अपेक्षित है। उदाहरण के लिए, नागरी लिपि में समय-समय पर जो रूप-परिवर्तन होते रहे हैं, उन्हें जाने बिना वह व्यतीत काल के लिपिचिह्नों को शुद्ध रूप में नहीं पढ़ सकता। ऐसी स्थिति में वह पाठ-ग्रहण की प्रारंभिक स्थिति में ही अपने कार्य में विफल हो जायेगा। कालजगत परिवर्तन के साथ ही लिपि के स्थानगत अन्तर को जानना भी आवश्यक है। कभी-कभी एक ही समय में एक ही लिपि के कुछ चिह्न एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न रूप में लिखे जाते हैं। एक लिपि जब कई भाषाओं में प्रयुक्त होती है, तब भी क्षेत्रीय अन्तर आ जाता है। जब उस क्षेत्र का लिपिकार दूसरे की भाषा की पाण्डुलिपि की उसी लिपि में नकल करता है तब उसकी अपनी भाषा के परिवर्तित लिपिचिह्न प्रयोग में आ जाते हैं। पाण्डुलिपि सम्पादक अगर इस तथ्य से अवगत नहीं है तो वह अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता।

3. भाषाज्ञान— भाषा का पूर्ण व्याकरणिक ज्ञान भी पाण्डुलिपि-सम्पादक के लिए अत्यावश्यक है। ध्वनियों से वाक्य-रचना तक के समस्त व्याकरणिक ज्ञान की आधार-शिला पर ही पाण्डुलिपि का शुद्ध सम्पादन निर्भर है। भाषाज्ञान के अन्तर्गत उस भाषा की विभिन्न बोलियों और उनके ऐतिहासिक परिवर्तनों की जानकारी भी अपेक्षित है, अन्यथा वह पाण्डुलिपि की मूल शब्दावली तथा वाक्य-रचना का निर्णय नहीं कर सकता।

4. इतिहास-ज्ञान— पाण्डुलिपि-सम्पादक को इतिहास का भी अच्छा ज्ञाता होना चाहिए, अन्यथा वह कृति के रचना-काल, सांस्कृतिक संदर्भों तथा घटनाओं आदि के सम्बन्ध में भ्रामक निर्णय प्रस्तुत कर सकता है।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

5. हस्तलेख-परीक्षण-क्षमता— पाण्डुलिपि के सम्पादक को हस्तलेखों की प्राचीनता की परख करने की क्षमता भी रखनी चाहिए। किस काल में किस प्रकार के कागज, स्याही आदि का उपयोग होता था तथा पाण्डुलिपि में प्रयुक्त सामग्री वस्तुतः कितनी प्राचीन है, इन बातों का सही निर्णय करने के लिए सम्पादक में अपेक्षित ज्ञान आवश्यक है।

6. चित्रकला का ज्ञान— पाण्डुलिपि-सम्पादक को चित्रकला के ऐतिहासिक विकास का भी ज्ञान होना चाहिये, क्योंकि कई पाण्डुलिपियों में मूल सामग्री के साथ चित्र भी दिये जाते हैं। चित्रों के माध्यम से सम्पादक उस पाण्डुलिपि का लेखनकाल निर्धारित कर सकता है। ऐसा करने से उसे एक ही कृति की कई पाण्डुलिपियों में से अधिक प्राचीन पाण्डुलिपि का निर्धारण करने में सहायता मिल सकती है। कभी-कभी चित्रों से पाठ-सम्बन्धी संकेत भी मिल जाते हैं और उन संकेतों के आधार पर उन शब्दों को सरलता से समझा जा सकता है, जो अन्य प्रकार से समझ में नहीं आ रहे थे।

7. विवेक की प्रौढ़ता— पाण्डुलिपि-सम्पादक में विवेक की प्रौढ़ता भी अत्यन्त आवश्यक है। जो सम्पादक पाठ को समझने और सही रूप निर्धारित करने के लिए अनुकूल संतुलित विवेक नहीं रखता, वह इस कठिन कार्य में सफल नहीं हो सकता।

8. शारीरिक क्षमता— पाण्डुलिपि-सम्पादक को शरीर से भी पूर्णतः स्वस्थ होना चाहिये। उसकी आँखें पूर्णतः ठीक हों, ताकि वह हर प्रकार की लिपि को स्वयं पढ़ सके, उसके हाथ और अंगुलियाँ ठीक प्रकार से कार्य करती हों, जिससे वह स्वयं शुद्ध प्रतिलिपियाँ ले सके। उसे शरीर से इतना सक्षम भी होना चाहिए कि कई घंटे निरन्तर बैठकर प्रतिलिपियाँ जाँच सके और उनको पढ़ने, मिलान करने आदि में थकान का अनुभव न करे। इन शारीरिक क्षमताओं के अभाव में पाण्डुलिपि-सम्पादक को अन्य व्यक्तियों की सहायता पर निर्भर होना पड़ता है, जिससे उसके निर्णय संदिग्ध हो जाते हैं।

9. आर्थिक निश्चितता— पाण्डुलिपि-सम्पादक की आर्थिक स्थिति ऐसी होनी चाहिए जिससे वह पूर्णतः निश्चिन्त होकर अपने कार्य में लग सके। जिन लोगों को धन कमाने की धुन है, वे इस कठिन कार्य को हाथ में लेने की अपेक्षा उपन्यास लिखें या उसकी आलोचना करें तो अधिक उत्तम है।

10. मानसिक शांति— पाण्डुलिपि-सम्पादक के लिए यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि उसका घर-बाहर का वातावरण ऐसा हो, जिसमें वह अपनी मानसिक शान्ति बनाये रख सके। जिस व्यक्ति का मन विभिन्न प्रकार की अशान्तियों का केन्द्र होता है, वह पाण्डुलिपि-सम्पादक की तपस्या पूर्ण नहीं कर सकता।

11. यश-कामना का अभाव— पाण्डुलिपि-सम्पादक के कार्य में रत व्यक्तियों को न तो जल्दी यशलाभ होता है और न उतना यश ही मिल पाता है, जितना कोई व्यक्ति चाहता है। यह तो पूर्णतः निष्काम साधना है। अतः वे व्यक्ति जो यश की लालसा रखते हैं, पाण्डुलिपि-सम्पादन में जल्दी यश प्राप्ति न होते देखकर अनेक अन्य ऐसे मार्ग अपनाते

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है, जिनसे कार्य जल्दी पूर्ण हो जाए और तुरन्त सिद्धि की ओर बढ़ जाए। ऐसे लोग अपने सम्पादन-कार्य में जल्दबाजी के कारण अनेक त्रुटियाँ छोड़ देते हैं। कभी-कभी बहुत ही भ्रष्ट सम्पादन कर डालते हैं। अतः सम्पादक का यश-लालसा से बहुत दूर रहना अत्यन्त आवश्यक है।

12. सम्पादन-विधि का ज्ञान— पूर्वोक्त योग्यताओं के होते हुए भी यदि कोई व्यक्ति सम्पादन की विधि से परिचित नहीं है, तो भी वह अच्छा सम्पादन-कार्य नहीं कर सकता। अतः पाण्डुलिपि-सम्पादन का कार्य करने के इच्छुक व्यक्ति को अनुभवी विद्वानों, ग्रन्थों, सम्पादित पाठों तथा संगोष्ठियों और विचार-विमर्श के माध्यम से पाण्डुलिपि-सम्पादन की विधि का पूर्ण ज्ञान करके ही इस क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए।

सम्पादन-विधि के सोपान

किसी पाण्डुलिपि के पाठ-सम्पादन के लिए सम्पादक को विशेष विधि से कार्य करना होता है। इस विधि के निम्नांकित सोपान हैं :

1. प्रतिलिपियों का संग्रह— सम्पादक को जिस पाण्डुलिपि का सम्पादन करना हो, उसकी यत्र-तत्र सुरक्षित समस्त प्रतियों का पता लगाकर उनकी प्रतिलिपियाँ उपलब्ध कर लेनी चाहिए। ये सभी प्रतिलिपियाँ बहुत सावधानी से की जानी चाहिएँ। प्रतिलिपि करते समय "मक्षिका स्थाने मक्षिका" का नियम पालन किया जाना चाहिए। कुछ सम्पादक प्रतिलिपि करते समय ही अपने विवेक से वर्णों और शब्दों में परिवर्तन करते चले जाते हैं। परिणाम यह होता है कि एक ही ग्रन्थ की कई प्रतिलिपियों में वह पाठ भी सुरक्षित नहीं रह पाता, जो संग्रहालयों में सुरक्षित उन हस्तलिखित प्रतियों में है, जिनसे वे प्रतिलिपियाँ की गयी हैं। कई बार ऐसा होता है कि सम्पादक आलस्य के कारण बहुत कम शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों से पारिश्रमिक देकर प्रतिलिपि करवाते हैं। ऐसी प्रतिलिपियों में पाठ-भेद बढ़ता चला जाता है। इस प्रकार सम्पादन का कार्य आरंभ ही सदोष हो जाता है।

2. प्रतियों का वंशवृक्ष— प्रतिलिपियाँ प्राप्त हो जाने के पश्चात् सम्पादक को चाहिए कि वह उन्हें काल-क्रम से व्यवस्थित करे। प्रायः हस्तलिखित प्रतियों की पुष्पिकाओं में लिपिकाल दिया होता है। कागज, स्याही, आश्रयदाता, लिपिकर्त्ता आदि के आधार पर भी काल-निर्णय किया जा सकता है। जब सभी प्रतियों के लिपिकाल का पता चल जाए, तब सम्पादक को चाहिए कि वह उनका वंशवृक्ष तैयार करे। इस कार्य के लिए सम्पादक को यह तय करना चाहिए कि कौन-कौन-सी प्रतियाँ किस-किस प्रति की प्रतिलिपि है। प्रायः आरंभ में लिखी गयी किसी एक प्रति की अनेक बार प्रतिलिपि की जाती है और वे सभी प्रतिलिपियाँ कई स्थानों की यात्रा करती है। इन प्रतिलिपियों से भी नई प्रतिलिपियाँ तैयार की जाती हैं। इस प्रकार एक प्रति की कई प्रतिलिपियाँ और उन प्रतिलिपियों की भी कई प्रतिलिपियाँ एक ही समय में या भिन्न-भिन्न समय में तैयार होती रहती हैं। सम्पादक को इन प्रतिलिपियों का पुष्पिका, पाठ आदि के आधार पर वर्गीकरण करना चाहिए। उसे यह

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पता लगाना चाहिए कि किस-किस प्रति की कौन-कौन-सी प्रतिलिपि है। जब यह निर्णय हो जाये, तब जो वंशवृक्ष बनेगा, वह मूल पाण्डुलिपि के निकट पहुँचने में सहायक होगा। उदाहरणार्थ, 'अ' ग्रन्थ की 11 प्रतिलिपियाँ प्राप्त हुईं। इनमें सबसे प्राचीन 3 प्रतिलिपियाँ हैं— क, ख और ग। उनके बाद ज, झ, ट एवं च तथा ठ लिखी गयी हैं तथा शेष घ, ङ, ड, और छ प्रतियाँ उनके भी पश्चात् लिखी गयी हैं। प्राप्त संकेतों से यह स्पष्ट हो गया है कि च और ठ प्रतियाँ ख प्रति से नकल की गयी है तथा ज, झ तथा ट प्रतियाँ, क से नकल की गयी हैं, छ प्रति च की नकल है तथा घ, ङ और ड प्रतियाँ ठ की प्रतिलिपि हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया है कि क और ख प्रतियाँ ग की प्रतिलिपि हैं। ऐसी स्थिति में सम्पादक को निम्नांकित प्रकार का वंशवृक्ष तैयार करना चाहिए :

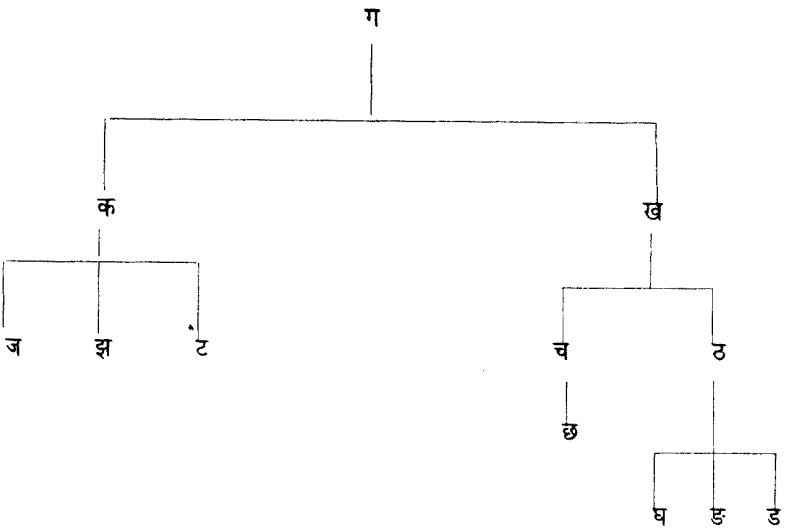

3. पाठ-मिलान— वंशवृक्ष के आधार पर सम्पादक को पाठ का मिलान करना चाहिए। ठ प्रति में यदि कोई पाठ अस्पष्ट, खंडित या अपूर्ण है, तो उसके लिए घ, ङ और ड प्रतियों का मिलान करके निर्णय करना चाहिए। इसी प्रकार क प्रति के मूल रूप को समझने में ज, झ तथा ट की सहायता ली जा सकती है और च के लिए छ प्रति सहायक हो सकती है। एक बार नकल की गयी प्रतियों का इतना मिलान कर लेने के पश्चात् च और ठ की सहायता से ख का निर्णय कर लेना चाहिए। इस सामान्य मिलान के पश्चात् क और ख प्रतियाँ ही महत्त्वपूर्ण रह जाती हैं तथा शेष के पाठ-भेदों की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। मिलान का मूल कार्य क और ख प्रतियों में किया जाना चाहिए। यह कार्य ऐसा हो जो ग प्रति में मूल रूप का शुद्ध निर्णय करने में अधिकाधिक सहायक हो सके।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

4. पाठालोचन— मिलान के पश्चात् ही पाठ-निर्णय की दिशा में पाठालोचन के माध्यम से अग्रसर होने की स्थिति आती है। सम्पादक को क, ख और ग प्रतियों के पाठों को लेकर पाठालोचन की विस्तृत पद्धति अपनानी चाहिए। यह पद्धति बहुत जटिल तो नहीं है, तथापि इसकी पृथक् विवेचन-पद्धति है जिसके लिए स्वतंत्र विश्लेषण अपेक्षित है।

पाठालोचन करते समय सम्पादक को निर्धारित प्रतियों का मिलान बहुत सावधानी से करना चाहिए। प्रत्येक शब्द के उचित रूप का या उचित शब्द का निर्णय निर्धारित प्रतियों के आधार पर तो करना ही पड़ता है, किन्तु ऐसी स्थिति भी आती है, जब वे प्रतियाँ भी कभी-कभी किसी शब्द या वाक्यांश के उचित निर्णय में सहायक नहीं हो पातीं। मूल पाण्डुलिपि की प्रथम नकल में यदि कोई त्रुटि हो गयी और वह आगे भी दोहरायी जाती रही, तो उस त्रुटि का संशोधन तब तक कैसे हो, जब तक मूल प्रति ही न मिले ? यदि मूल प्रति नष्ट हो जाने या अन्य कारण से अनुपलब्ध है, तब सम्पादक के कार्य की कठिनता बहुत बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में प्रसंग, देश-काल आदि के आधार पर सम्पादक को स्वयं ही निर्णय करना होता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मूल पाण्डुलिपि तो उपलब्ध होती है, किन्तु वह रचनाकार की हस्तलिपि न होकर किसी श्रोता-लेखक की हस्तलिपि होती है। ऐसी स्थिति में भी उस आदि या मूल पाण्डुलिपि में त्रुटियाँ हो सकती हैं जिनका निवारण करने के लिए भी सम्पादक को विवेक से प्रसंगादि के आधार पर निर्णय करना चाहिए।

इस प्रकार उपलब्ध प्रतियों की सहायता से उस प्रति में संशोधन किये जा सकते हैं, जिसे मूल प्रति या मूल प्रति के सर्वाधिक निकट माना गया है।

संशोधन और पाठ-निर्धारण करते समय सम्पादक को पाठान्तर का उल्लेख पाद-टिप्पणियों में करते जाना चाहिए। यदि कहीं आधार प्रति के पाठ के स्थान पर पूर्णतः अनुमानित पाठ दिया गया है, तो उसका भी सप्रमाण उल्लेख पाद-टिप्पणी में होना चाहिए।

संशोधन के माध्यम से जब सामग्री का पुनः स्थापन हो जाये, तब रचनाकार के मूल पाठ की अन्य सभी संभावनाओं पर पुनः आलोचनात्मक दृष्टि से विचार होना चाहिए। इस विचार के पश्चात् ही पाठ-निर्धारण की अन्तिम स्थिति आनी चाहिए। इस प्रक्रिया से किये गये परिवर्तनों का भी पाद-टिप्पणियों में उल्लेख होना चाहिए।

5. भूमिका— प्रत्येक पाठ-सम्पादन को पाठालोचन के द्वारा शुद्ध पाठ-निर्धारण कर लेने के पश्चात् विस्तृत भूमिका लिखनी चाहिए, जिसमें उसे सभी हस्तलिखित प्रतियों का विस्तृत परिचय देना चाहिए। अर्थात् उसे यह बताना चाहिए कि उसने किस-किस प्रति का उपयोग करके पाण्डुलिपि का सम्पादन किया है, वे प्रतियाँ कहाँ-कहाँ उपलब्ध हुई हैं, उनकी प्रामाणिकता क्या है तथा उनकी प्राचीनता आदि का कितना महत्त्व है। सभी

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हस्तलिखित प्रतियों का आवश्यक विवेचन तथा वंशवृक्ष आदि सम्बन्धी निर्णय भी विस्तार से भूमिका में दिया जाना चाहिए। पाण्डुलिपि-सम्पादक को उस रचना की विस्तृत समीक्षा भी भूमिका में देनी चाहिए तथा साहित्य के इतिहास में उसके स्थान का भी निर्धारण करना चाहिए।

उपसंहार

पाण्डुलिपि-सम्पादन का कार्य मानव जाति की सांस्कृतिक धरोहर को सुरक्षित रखने का ही कार्य नहीं है, उसे अधिकाधिक उपयोगी बनाने का भी कार्य है। अतीत काल के संचित मानवीय अनुभवों, विचारों, कल्पनाओं और ज्ञान को अंधकार के गर्त से निकालकर भावी पीढ़ी को सौंपना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। बड़े-बड़े समाज-सुधारक, नेता, साहित्यकार, पंडित, वैज्ञानिक आदि मानव-हित के जो श्रेष्ठ कार्य करते हैं, उनसे अधिक श्रेष्ठ और श्रेयष्कर पाण्डुलिपि-सम्पादन का कार्य है। इसी कार्य के फलस्वरूप आज इलिएट, होमर, वाल्मीकि, तुलसी, सूर आदि के महान् काव्य जीवित हैं, जो अनेक शताब्दियों से मानव जाति के पथ-प्रदर्शन के लिए प्रकाश-स्तम्भ बने हुए हैं तथा आगे भी जिनका उपयोग होता रहेगा।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

14

तुलनात्मक अनुसंधान

अनुसंधान के क्षेत्र में तुलनात्मक दृष्टि के प्रयोग पर भी बहुत बल दिया जाता है। यों तो किसी भी विषय के अनुसंधान में तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग सार्थक हो सकता है, किन्तु भाषा, साहित्य, दर्शन, इतिहास एवं ललितकलाओं के क्षेत्र में इस पद्धति की विशेष उपयोगिता होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्ययन तुलनात्मक दृष्टि से किया जाए, तो अनेक नये परिणाम सामने आ सकते हैं। कवियों और महत्त्वपूर्ण कृतियों की तुलना करके किया जाने वाला अनुसंधान अनेक मौलिक तथ्य प्रकाश में ला सकता है। आलोचना के क्षेत्र में तो यह पद्धति अनेक आलोचकों द्वारा अपनाई जाती ही रही है, शोधकर्त्ता भी यदा-कदा इस पद्धति का सहारा लेते रहे हैं। जिन विषयों पर तुलनात्मक दृष्टि से शोध-कार्य हुआ है, उनमें से कुछ शोध-प्रबन्धों के निम्नांकित शीर्षक इसका प्रमाण हैं :

1. वाल्मीकि रामायण और रामचरित-मानस का तुलनात्मक अध्ययन— विद्या मिश्र।
2. रामायणेतर संस्कृत काव्य और रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन— शिवकुमार शुक्ल।
3. कृतिवासी बँगला रामायण और रामचरित-मानस का तुलनात्मक अध्ययन— रामनाथ त्रिपाठी।
4. रामचरित-मानस और रामचंद्रिका का तुलनात्मक अध्ययन— जगदीश नारायण।
5. भारतेन्दु और नर्मद : एक तुलनात्मक अध्ययन— अरविन्द कुमार देसाई।
6. हिन्दी और मराठी का निर्गुण-काव्य— प्रभाकर माचवे।
7. हिन्दी और मराठी कथा-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन— शंकरशेष।
8. आधुनिक हिन्दी और मराठी काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन— मनोहर काले।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन शीर्षकों से स्पष्ट है कि शोधकर्त्ताओं ने ग्रंथों, लेखकों, काव्य-प्रवृत्तियों, कथा-साहित्य, काव्यशास्त्र आदि विभिन्न विषयों का तुलनात्मक अनुशीलन किया है। अतः तुलनात्मक अनुसंधान की प्रवृत्ति भी भली प्रकार जानी-पहचानी है, किन्तु अनुसंधान की प्रविधि का कितना अनुसरण इन शोध-प्रबन्धों में किया गया है, यह विचारणीय है।

प्रायः देखा जाता है कि तुलनात्मक अनुसंधान करने वाले शोधार्थी जब दो कवियों या लेखकों, दो प्रवृत्तियों, दो ग्रन्थों, दो भाषाओं या दो अलग साहित्यों का तुलनात्मक अनुसंधान करते हैं, तब वे कुछ मान निर्धारित कर लेते हैं और उन्हीं से दोनों पक्षों की तुलना कर देते हैं। सामान्यतः यह देखा जाता है कि साम्य-वैषम्य की परीक्षा करके शोधार्थी अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। कुछ शोध-प्रबन्धों में एक अन्य हास्यास्पद पद्धति देखने को मिली है और वह है— दोनों पक्षों का अलग-अलग अध्ययन तथा अन्त में एक अध्याय में निष्कर्ष के रूप में दोनों पक्षों की तुलना। इसलिए यह कहा जा सकता है कि शताधिक तुलनात्मक शोध-प्रबन्ध केवल हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में लिखे जाने पर भी उनमें अनुसंधान के गुण बहुत कम हैं तथा शोधपरक सत्य का उद्‌घाटन नहीं हो सका है।

वस्तुतः तुलनात्मक अनुसंधान में विषय-चयन से तथ्य-सत्यापन तक बहुत सावधानी की आवश्यकताहोती है। सर्वप्रथम विषय का चयन करते समय यह देखना चाहिए कि जिन दो पक्षों की तुलना की जा रही है, उनके कथ्य की भूमि समान हो, ताकि कथ्य को प्रस्तुत करने का साम्य-वैषम्य स्पष्ट हो सके। विषय-चयन के पश्चात् जब अनुसंधान कार्य प्रारंभ किया जाये, तब यह प्रतिज्ञा की जानी चाहिए कि दोनों पक्षों के प्रति अध्ययन की दृष्टि निष्पक्ष रहेगी। ऐसा न होने से तुलना में निर्विवाद निष्कर्षों तक पहुँचना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक शोधार्थी "रामचरितमानस और रामचंद्रिका" शीर्षक से तुलनात्मक अध्ययन करता है और दूसरा "रामचंद्रिका और रामचरितमानस" शीषक से। दोनों के शीर्षकों में साधारणतः अन्तर दिखाई नहीं देता, किन्तु अध्ययन करते समय प्रथम शीर्षक के शोध-प्रबन्ध में रामचरितमानस को प्रधानता मिल जाती है और द्वितीय शीर्षक के शोध-प्रबन्ध में रामचन्द्रिका प्रधान हो उठती है। शोधकर्त्ता को चाहिए कि वह प्रतिज्ञा-बद्ध होकर इस दोष से बचे तथा दोनों के साथ समान न्याय करे। यदि सूत्र रूप में कहें तो यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक अनुसंधान में वस्तुनिष्ठ होना बहुत आवश्यक है और यह कार्य निरन्तर सावधानी की अपेक्षा रखता है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या वस्तुनिष्ठता इतनी सहज है कि हर शोधार्थी उसका अधिकारी मान लिया जाए?

सबसे प्रथम प्रश्न तो यही उठता है कि जिन दो पक्षों की तुलना की जा रही है, उनका समान ज्ञान क्या शोधार्थी को है ? उदाहरणार्थ, कोई शोधार्थी हिन्दी और मराठी की एक-एक रचना तुलना के लिए चुनता है, उसने यह चयन विषयवस्तु आदि को देख-परख कर किया है, वह वस्तुनिष्ठ भी रहना चाहता है। किन्तु उसे मराठी का ज्ञान ही नहीं है या

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है तो बहुत कम। यदि मराठी भाषा भी जानता हो, तो मराठी साहित्य के इतिहास और प्रवृत्तियों से उसका विधिवत् परिचय नहीं। ऐसी स्थिति में उसकी वस्तुनिष्ठता भी किस प्रकार उससे न्याय करा सकेगी ? निश्चय ही उसका अनुसंधान एकपक्षीय होगा और सभी निष्कर्ष भ्रामक सिद्ध होंगे।

अन्य भाषाओं के ग्रन्थों से हिन्दी के ग्रन्थों की तुलना करने के लिए कुछ शोधार्थी उन भाषाओं के हिन्दी या अंग्रेजी अनुवादों का सहारा लेते हैं। यह प्रवृत्ति तो तुलनात्मक शोध के लिए सबसे अधिक खतरनाक है। अनुवाद कितना ही विद्वत्तापूर्ण हो, मूल भाषा की अभिव्यक्ति का पूर्णतः अनुसरण नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में की गई तुलना निरर्थक नहीं तो भ्रामक तो हो ही जाती है।

तुलनात्मक अनुसंधान के अनेक खतरों में एक खतरा यह भी है कि शोधार्थी किसी विचार या विषय की थोड़ी-सी समता देखकर ही उसे महत्त्वपूर्ण मान लेता है और उसी महत्त्व के प्रतिपादन में जुट जाता है। एक अन्य खतरा तब पैदा होता है, जब शोधार्थी किसी एक पक्ष को श्रेष्ठ सिद्ध करने का विचार लेकर अपने कार्य में प्रवृत्त होता है। जब एक कवि या रचनाकार या प्रवृत्ति पर दूसरे का प्रभाव दिखाने का कार्य हाथ में लिया जाता है, तब कुछ शोधार्थी जिसका प्रभाव दिखाना चाहते हैं, उसको बढ़ा-चढ़ा कर दिखाते हैं और दूसरे पक्ष की हर विशेषता में प्रथम पक्ष का योगदान ही सिद्ध करने लग जाते हैं। इस प्रकार प्रभाववादी तुलना शोध के मूल्यों को ही समाप्त कर देती है। इन खतरों से तुलनात्मक शोधकर्त्ता को बचना चाहिए।

तुलनात्मक शोध के लिए अनेक नये क्षेत्र खुले हुए हैं। साहित्य तथा कलाओं में अभी तक इस पद्धति का वस्तुनिष्ठ प्रयोग बहुत कम हुआ है। हजारों पाण्डुलिपियाँ संग्रहालयों में पड़ी हैं और सैकड़ों पाण्डुलिपियाँ प्रकाशन के अभाव में नये लेखकों के घरों में भी सड़ रही हैं। आजकल जो साहित्य लिखा जा रहा है, या कलाओं के शास्त्रों पर विचार हो रहा है या इतिहास एवं दर्शन का चिन्तन चल रहा है, उसका अधिकांश भाग प्रकाशित नहीं हो रहा है। मुद्रण के साधन बढ़े हैं, किन्तु वे कुछ विशेष घरानों के हाथों में ही सीमित हो गये हैं। फलतः उन तक जिनकी पहुँच है, वे ही अपनी कृतियाँ प्रकाशित करा पा रहे हैं। ऐसी स्थिति में जो प्रकाशित नहीं हो पा रहा है, वह सब निकृष्ट ही नहीं, उसमें बहुत कुछ उत्कृष्टतम भी है। जो छप रहा है, वह सभी उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। अतः हस्तलिखित रूप में सुरक्षित वर्तमान लेखकों का साहित्य भी अनुसंधान की अपेक्षा रखता है। वर्तमान लेखकों में ऐसे भी कई लेखक हैं, जो अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को अप्रकाशित छोड़कर स्वर्ग सिधार चुके हैं। उनकी पोथियों के लिए तो पोथीखानों ने भी अभी तक रुचि नहीं दिखाई। शोधकर्त्ता ऐसे दुर्लभ होते ग्रन्थों का अनुसंधान करने का निश्चय कर सकता है और समकालीन स्थितियों तथा परिवर्तनों के प्रकाश में तुलनात्मक अनुसंधान कर सकता है, जिससे मानव जाति के हितार्थ नये विचार और नये संदर्भ मिल सकें।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तुलनात्मक अनुसंधान पाण्डुलिपियों के काल-निर्धारण तथा रचनाकार के निश्चय में भी सहायक होता है। कल्पना कीजिए कि आपको एक प्राचीन पाण्डुलिपि मिली। इस पाण्डुलिपि पर लेखक का नाम नहीं है। अब कैसे पता चले कि वह किसकी रचना है ? ऐसी दशा में पहले रचना के काल का पता तुलनात्मक अनुसंधान से लगाना होगा। इस कार्य के लिए स्याही, सामग्री, लिपि, कागज, भाषा आदि के आधार पर पहले काल-निर्णय दूसरी पाण्डुलिपियों से तुलना करके करना होगा। तत्पश्चात् इन्हीं बातों के आधार पर उस काल की कुछ कृतियों से तुलना करके यह पता लगाना होगा कि विषय-प्रतिपादन शैली, भाषा, लिपि आदि का किस कृति से साम्य है और उसका लेखक कौन है ? तुलनात्मक पद्धति का इसी प्रकार विषय-सामग्री के अन्य पक्षों पर भी प्रयोग करना होगा और तब शोधार्थी किसी सत्य के निकट पहुँच सकेगा। तुलनात्मक अनुसंधान के अलावा इस प्रकार के सत्यों तक पहुँचने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

वस्तुतः तुलनात्मक अनुसंधान के इतिहास और संस्कृति के ऐसे रहस्य खुलते चले जाते हैं, जिनसे मानव-जीवन का एक नया क्षितिज ही प्रकाशित हो उठता है। यह तुलनात्मक अनुशीलन का ही परिणाम है कि एक देश की कोई कथा दूसरे देश में जाकर कैसा विचित्र रूप धारण कर लेती है और फिर भी वह उसके मूल देश की पहचान करने वाले शोधार्थी की पहुँच से बाहर नहीं रह पाती। वाल्मीकि की रामायण के हनुमान ने थाईलैण्ड आदि देशों में जाकर जो रूप धारण किये, वे ऐसे थे कि बड़े-बड़े बुद्धिमान भी उन्हें नहीं पहचान सकते थे; किन्तु तुलनात्मक शोधकर्त्ता ने उनका मूल रूप सबके सामने उजागर कर ही दिया। अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक अनुसंधान तलवार की धार पर चलने के समान कठिन अवश्य है किन्तु सुधी-साधक शोधार्थी इस क्षेत्र में बड़ी-से-बड़ी सफलता पा सकता है।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

15

शब्दकोश-निर्माण की शोध-प्रविधि

हर विषय किसी-न-किसी भाषा में लिखा जाता है। भाषा का विकास विभिन्न बोलियों से होता है। किसी एक क्षेत्र की बोली दूसरे क्षेत्र की बोली से जो साम्य या अंतर रखती है, उसे वैज्ञानिक ढंग से समझकर ही भाषा के शिष्ट स्वरूप के विकास को समझा जा सकता है। इस कार्य के लिए प्रत्येक बोली-वर्ग की शब्दावली का संकलन और उसका विधिवत् कोश-निर्माण आवश्यक होता है। अतः यह कार्य भी अनुसंधान के क्षेत्र में ही आता है।

कोश-निर्माण का कार्य बहुत श्रम-साध्य, जटिल तथा विवेक एवं ज्ञान-सापेक्ष है। कोश-निर्माण के लिए शोधकर्त्ता को शब्दों का अनुसंधान क्षेत्रीय सर्वेक्षण के माध्यम से करना पड़ता है। उसे विभिन्न बोलियों के बोलने वाले व्यक्तियों से सम्पर्क करना पड़ता है और प्रश्नावली तथा रूपरेखा बनाकर अभीष्ट सामग्री तदनुसार प्राप्त करनी होती है। इस कार्य में शिथिलता या लापरवाही हो जाने या सर्वेक्षण-कार्य स्वयं न करके दूसरों से कराने पर अशुद्ध परिणाम सामने आते हैं। उदाहरणार्थ, ग्रियर्सन ने भारत की भाषाओं और बोलियों का स्वयं सर्वेक्षण नहीं किया था। उसने बाइबिल की एक कहानी चुनकर जिले के कर्मचारियों को भेजी थी और उसका क्षेत्रीय बोलियों में रूपान्तर करा लिया था। इन रूपान्तरों को आधार बनाकर उसने उन बोलियों के परिवारों एवं व्याकरण का निर्धारण कर डाला। फलतः उसके द्वारा प्रकाशित सभी परिणाम विश्वसनीय नहीं हैं। ग्रियर्सन ने गाँवों के पटवारी आदि से प्रत्यक्ष सर्वेक्षण भी कराये और उन्होंने जो कुछ प्रस्तुत किया, उसी को उसने सही मान लिया, जबकि ग्राम-स्तर के वे कर्मचारी भाषा के सम्बन्ध में न तो उतना ज्ञान या विवेक रखते थे, न संग्रह में उतने सावधान ही रह सकते थे।

कोश-निर्माण के लिए यदि इस प्रकार अन्य लोगों की सहायता ली जाती है और घर बैठकर शब्दार्थ का निर्णय कर लिया जाता है, तो वह कार्य विश्वसनीय तथा सत्ताधारी नहीं कहा जा सकता।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भाषा में शब्द की प्रधानता अवश्य रहती है, किन्तु कोई भी शब्द अर्थ के बिना उपयोगी नहीं होता और इसीलिए वह भाषा का अंग नहीं बन सकता। शब्द का संकलन मात्र शब्द-कोश नहीं है, उसके विभिन्न अर्थों का संकलन भी आवश्यक होता है। यह कार्य गहन क्षेत्रीय सर्वेक्षण चाहता है।

साहित्य में जो भाषा प्रयुक्त होती है, उसके अर्थ जीवन से ही आते हैं और यह जीवन वहीं मिलता है जहाँ सहजता और सरलता है। अतः गाँव ही प्रायः भाषा को वह शब्दावली प्रदान करते हैं, जो अर्थ-भंगिमा के कारण भाषा की शक्ति बनती है। उसका दूसरा साधन साहित्यिक ग्रन्थ होते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मूलतः लोक-जीवन ही शब्द-कोश के निर्माण के लिए प्रमुख स्रोत होता है। इस दृष्टि से लोक में प्रचलित कहानियों, लोक-गीतों आदि का संकलन शब्द-कोश के निर्माण के लिए बहुत उपयोगी होता है। यह संकलन-कार्य अनुसंधान की सर्वेक्षण-पद्धति पर आश्रित है।

यहाँ यह भी ध्यान में रखने वाली बात है कि जो शब्द संकलित किये जाएँ वे केवल एक ही व्यक्ति से सुने हुए नहीं होने चाहिएँ, क्योंकि एक व्यक्ति कभी जल्दबाजी में या घबराकर या मुख-सुख के लिए ऐसा उच्चारण भी कर सकता है, जिससे शब्दों का सही रूप प्रकट न हो। अतः जब कुछ शब्द कई व्यक्तियों से सुन लिये जाएँ तथा प्रयोगार्थ में समानता की पकड़ हो जाए, तभी उन्हें शब्द-कोश में सम्मिलित करना चाहिए। ऐसा करने पर ही शोधकर्त्ता का कोश-कार्य प्रामाणिक हो सकता है।

शब्दों के पर्यायों पर भी बहुत सावधानी से विचार करना चाहिए। यों तो पर्यायवाची शब्दों को एक ही अर्थ में रख दिया जाता है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। कोई भी शब्द किसी भी पर्यायवाची का समानार्थक नहीं हो सकता। सभी पर्यायवाची शब्दों में कुछ-न-कुछ अंतर अवश्य होता है। यथा, जल के पर्यायवाची सलिल, पानी आदि शब्द समग्रतः एक ही अर्थ नहीं रखते। उनके अर्थों में भाव की दृष्टि से कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य होता है। शब्दकोश-निर्माण के समय अर्थ लिखने का कार्य इस अन्तर की स्पष्टता पर आधारित होना चाहिए। इसी प्रकार विदेशी या अन्य भाषाओं के शब्दों को भी पर्यायवाची मानकर नहीं चल सकते, उनमें अर्थ की समानता ही स्वीकार की जा सकती है।

जो शब्द एकत्र किये जाएँ, उनके व्याकरणिक रूपों पर भी ध्यान देने की बहुत आवश्यकता होती है। उच्चारण तथा व्युत्पत्ति भी स्पष्ट करनी पड़ती है। अतः आवश्यकतानुसार प्रयोग के उदाहरण भी एकत्र करने पड़ते हैं। साहित्य या लोक-साहित्य से लिये गये शब्दों के उदाहरण तो मिल सकते हैं, किन्तु बोलने वालों से लिये गये शब्दों के उदाहरणों में फिर वही त्रुटि हो सकती है कि कोई गलत बोल रहा हो और शोधार्थी उसे ज्यों-का त्यों चुन ले। जब उदाहरण नहीं मिलते या शब्दों से जिसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता, उसको स्पष्ट करने के लिए कभी-कभी चित्र भी बनाने पड़ते हैं। ये चित्र बहुत छोटे तथा संकेतात्मक होने चाहिएँ। लोक-जीवन में उनके प्रयोग के साथ बहुत से प्रतीक भी मिलते हैं। उन प्रतीकों को भी बहुत छोटे आकार में शब्द-कोश में दिया जा सकता है।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जनपदीय बोलियों के शब्द-कोश-निर्माण में क्षेत्रीय अन्तर का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। शोधकर्त्ता को चाहिए कि वह निकटवर्ती क्षेत्रों में बोली जाने वाली बोलियों की तुलना में ही शब्दार्थ प्रस्तुत करे। शब्द-कोश में यह अंकित करना भी आवश्यक होता है कि एक ही शब्द एक ही बोली में जिस अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है, दूसरी बोली में उसका वह अर्थ नहीं है। जो बदला हुआ अर्थ है, उसे भी उस शब्द के अर्थ के साथ अंकित करना होता है।

शब्द-कोश के निर्माण में शोधार्थी यदि तुलनात्मक शोध-प्रविधि का सहारा ले तो उसका कार्य विशेष उपयोगी बन सकता है। ग्रियर्सन ने "पीजेंट लाइफ ऑफ बिहार" नामक कोश में इसी तुलनात्मक प्रविधि का प्रयोग किया। उसने बिहार की भोजपुरी, मगही और मैथिली बोलियों के उन शब्दों का संग्रह किया है, जो वहाँ ग्राम-जीवन में बोले जाते हैं। ग्रियर्सन के पश्चात् इस प्रकार के प्रयास बहुत कम किये गये हैं। ग्रियर्सन ने तीनों बोलियों के शब्दों के तुलनात्मक अर्थ देकर अपने शब्दकोश को सामान्य जन के लिए भी उपयोगी बनाने की प्रथम चेष्टा की थी। दुःख का विषय है कि हमारे शोधार्थी उपाधि को जितना प्यार करते हैं, उतना प्यार जनता से नहीं करते, जन-कल्याण में अपनी साधना का नियोजन नहीं करते।

शब्द-कोश का निर्माण करते समय शोधार्थी को पूर्ववर्ती कार्यों का सर्वेक्षण सावधानीपूर्वक करना चाहिए, ताकि अपने शोध-कार्यों में प्रवृत्त होते समय वह दिग्भ्रमित न हो। साहित्यिक रचनाओं से शब्द-संग्रह करते समय भी एक संकट उत्पन्न होता है। प्राचीन ग्रन्थ या तो पाण्डुलिपि के रूप में मिलते हैं, या प्रकाशित अवस्था में भी। सभी ग्रन्थों का सम्पादन पाठालोचन-पूर्वक नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में जो शब्द संग्रहीत किये जाते हैं, उनके उच्चारण, रूप और अर्थ तीनों के ही बदल जाने का खतरा बराबर बना रहता है। अतः शब्द-कोश के निर्माता को पाण्डुलिपियों के पढ़ने का भी अच्छा ज्ञान होना चाहिए। वह जब तक स्वयं पाण्डुलिपि-सम्पादन की कला में दीक्षित नहीं होगा, तब तक शब्द-कोश-सम्बन्धी शोध-कार्य प्रामाणिक नहीं हो सकता।

लिखित साहित्य से शब्द-चयन करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कवि या लेखक किस क्षेत्र की बोली या भाषा से प्रभावित है ? उदाहरणार्थ, एक कवि पहाड़ी क्षेत्र का निवासी है, तो उसकी भाषा में पहाड़ी बोलियों की शब्दावली का प्रभाव और शब्द-प्रयोग दोनों ही मिल सकते हैं। ऐसी स्थिति में शब्दकोश के शोधार्थी को उस क्षेत्र की बोलियों से भी परिचय प्राप्त करना चाहिए, भले ही वह अपने अध्ययन-कक्ष में बैठकर लिखित साहित्य से शब्दों का चयन कर रहा हो। इसी प्रकार कुछ लेखकों की मातृभाषा भिन्न होती है। कोई मराठीभाषी हिन्दी लेखक जब रचना करता है, तब बहुत संभावना रहती है कि वह मराठी-शब्दावली का यत्र-तत्र अपनी रचनाओं में प्रयोग करे। ऐसे शब्द उच्चारण आदि में कुछ बदले हुए भी हो सकते हैं तथा मराठी का कोई शब्द हिन्दी के किसी शब्द

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से स्वरूप व उच्चारण में समता रख सकता है, किन्तु उसका अर्थ दूसरा हो सकता है। शब्द-कोश की शोध-यात्रा में इस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करने के लिए शोधार्थी को अपनी बहुभाषा-ज्ञान-क्षमता को समझ लेना चाहिए, तभी वह अपने कार्य में सफल हो सकता है।

इन सब बातों के साथ-साथ शोधार्थी को भाषा-विज्ञान तथा व्याकरण का भी अच्छा ज्ञान होना चाहिए, तभी वह शुद्ध शब्द-कोश की रचना कर सकता है। जिस भाषा का वह शब्द-कोश बना रहा होता है, जो अनेक वर्षों के प्रयोग के कारण अपना मूल रूप ही खो बैठते हैं। भाषा विज्ञान और व्याकरण के सही ज्ञान के बिना वह उन शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं समझ सकता, जो शब्द-कोश की रचना के लिए बहुत आवश्यक है।

बोलियों के शब्द-कोश का निर्माण ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से भी करना होता है। ऐसी स्थिति में तो शब्द के मूल रूप की खोज बहुत आवश्यक हो जाती है। अतः शोधार्थी को विषय की सीमा के साथ-साथ क्षेत्र की सीमा भी बहुत सोच-समझकर निर्धारित करनी पड़ती है। इस सीमा में ही वे अतीत की विरासत वर्तमान को सौंप पाते हैं। वस्तुतः यह कार्य गहन साधना और वर्षों का श्रम चाहता है।

अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शोध के क्षेत्र में जितना महत्त्व अन्य वर्णनात्मक-व्याख्यात्मक विषयों का है, उससे अधिक महत्त्व शब्द-कोश के निर्माण का है। यह कार्य शोध की सामान्य योग्यता से अधिक ज्ञान और अनुभव चाहता है तथा परिश्रम की कठिनता के साथ-साथ समय का व्यय भी अधिक माँगता है। जो शोधार्थी इस क्षेत्र में पूरी ईमानदारी से साधानापूर्वक कार्य करते हैं, वे भाषा और साहित्य का भी बहुत उपकार करते हैं।

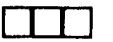

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

16

अनुसंधान और मानव-मूल्य

शोध का लक्ष्य मात्र शोध नहीं है, उपाधियाँ प्राप्त कर सम्मान, यश और धनार्जन मात्र भी शोध का लक्ष्य नहीं है। कोई भी समाज या राष्ट्र जो विश्वविद्यालय चलाता है तथा उच्चस्तरीय अनुसंधान की व्यवस्था वरता है, वह शोध-कर्त्ता से कुछ अपेक्षाएँ भी रखता है। जिस प्रकार समस्त कृषि-उत्पादन का भोग किसान ही नहीं कर लेता, कल-कारखानों के सुफल केवल मिल-मालिक एवं मजदूर के लिए ही नहीं होते, उसी प्रकार अनुसंधान के परिणामों का भोक्ता भी केवल शोधकर्त्ता नहीं हो सकता। उसे समाज और राष्ट्र के हित को ध्यान में रखकर शोध-कार्य सम्पन्न करना चाहिए।

हर समाज और राष्ट्र की एक संस्कृति होती है। संस्कृति निश्चित मूल्यों पर आधारित होती है। उन मूल्यों की रक्षा और विकास ज्ञान-विज्ञान के निरन्तर संशोधन से ही संभव होता है। कारण यह है कि विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ हवाओं की तरह संक्रमण करती हैं। इस संक्रमण में जो संस्कृति दुर्बल होती है, वह पराजित होकर बाह्य प्रभावों को अंगीकार कर लेती है और उसके जीवन-मूल्य धीरे-धीरे क्षय-ग्रस्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें पहचानना भी कठिन हो जाता है। फल यह होता है कि उस जाति या समाज का विकास रुक जाता है तथा कभी-कभी इतना ह्रास होता है कि उस पराजित जाति या समाज का सांस्कृतिक अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। अतः शोध के द्वारा ही निरन्तर जातीय संस्कृति की सुरक्षा करनी होती है, जो मानव-मूल्यों के अस्तित्व पर निर्भर होती है।

शोध के द्वारा मानव-समाज की समस्त बौद्धिक एवं व्यावहारिक सम्पदा का मूल्यांकन संभव होता है। सनातन मानव-मूल्यों की पहचान शोध के द्वारा ही सुरक्षित रह पाती है तथा नवविकसित मानव-मूल्यों का संशोधन भी उसी से संभव होता है। विभिन्न जातियों के सांस्कृतिक आदान-प्रदान में जन्म लेने वाली अनावश्यक टकराहट भी शोध के द्वारा ही दूर की जा सकती है तथा उन जातियों को उन तत्त्वों की पहचान कराई जा सकती है, जो वास्तव में एक ही हैं, केवल भाषा या नाम-रूप बाहरी अन्तर होने से वे भिन्न प्रतीत हो रहे हैं।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वस्तुतः मानव-मूल्य समान ही होते हैं। यह मानना भ्रम होगा कि किसी एक जाति के जीवन-मूल्य दूसरी जाति के जीवन-मूल्यों के विरोधी भी हो सकते हैं। जितने भी मानवीय गुण हैं, सदा और सर्वत्र समान होते हैं। उन्हें भिन्न मानना किसी भी जाति-विशेष या व्यक्ति-विशेष का अज्ञान ही कहा जायेगा। इस अज्ञान का निवारण शोध के द्वारा ही किया जा सकता है।

वस्तुतः राजनीति या निहित स्वार्थों से प्रभावित व्यक्ति या वर्ग ऐसे भ्रम फैलाते हैं, जिनसे जीवन के वास्तविक मूल्य छिप जाते हैं तथा समाज-विरोधी बातों में लोगों की रुचि बढ़ जाती है। सामाजिक बुराइयाँ बढ़ने लगती हैं। अपराध प्रवृत्तियाँ सम्मान पाने लगती हैं। भीड़-तंत्र, समाज के उच्चादर्शों को अतीत की सड़ी-गली परम्पराएँ बताकर नष्ट करने पर उतारू हो जाता है। शिक्षा-दीक्षा पर भी उसका अधिकार हो जाता है। फलतः ऐसे समाज की नींव पड़ने लगती है, जो अपने उच्च जीवन-मूल्यों को या तो विस्तृत कर देता है या उनका उपहास करने लगता है। धीरे-धीरे ऐसा समय आता है, जब पथ-भ्रष्ट समाज को किसी भी दिशा में मुक्ति का मार्ग नहीं मिलता। ऐसे समाज को नया प्रकाश देने के लिए शोध के द्वारा विस्मृत मानव-मूल्यों की निधि सौंपने के लिए विद्वान् शोधकर्त्ता ही सामने आते हैं। यदि समय पर मानव-मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिए सही दिशा में अनुसंधान न किया जाए, तो सम्पूर्ण राष्ट्र भयंकर संकटों में पड़ जाता है।

जीवन की धारा को सीमाओं में प्रवाहित करने के लिए प्रत्येक देश का प्रत्येक समाज ऐसे नियम बनाता है, जो अन्य देश या समाज के लिए अविरोधी तो होते ही हैं, साथ ही उनसे पारस्परिक अन्तर्विरोध की चिंगारियाँ भी नहीं निकलतीं। किन्तु कुछ ऐसे व्यक्ति भी समय-समय पर जन्म लेते हैं, जो अपनी आसुरी शक्तियों का प्रदर्शन करके एक वर्ग को दूसरे वर्ग से लड़ा देते हैं। विभिन्न तंत्र विध्वंसक गतिविधियों को बढ़ावा देते हैं और उनके परिणाम-स्वरूप समाज की शान्ति-व्यवस्था संकट में पड़ जाती है। अतः मनुष्य के चरित्र के विभिन्न पक्षों का मूल्यों की दृष्टि से अनुसंधान करके उन पर छाई धूल को हटाना आवश्यक हो जाता है।

शोधकर्त्ता का क्षेत्र कोई भी हो, विषय-सम्बन्धी अन्तर हो, किन्तु मूल्य-दृष्टि में कोई अन्तर नहीं पड़ता। साहित्य, कला, इतिहास या दर्शन की रचनात्मक शैलियाँ भिन्न हो सकती हैं, स्रोतों में अन्तर हो सकता है, किन्तु शोधाकर्त्ता के लिए उनके अध्ययन की मूल्य-दृष्टि भिन्न नहीं हो सकती या ऐसा भी नहीं हो सकता कि वह केवल विषय की वास्तविकता का अनावरण करके रह जाए तथा मूल्यों की उपेक्षा कर दे।

उदाहरणार्थ, किसी जाति के इतिहास पर अनुसंधान करते समय किसी राजा, वर्ग या समाज की वीरता का अनुशीलन उसके द्वारा किये गये कार्यों के परिणामों की उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि किसी दुर्बल वर्ग पर अत्याचार करने में वीरता दिखाई गई है, तो उसे कोई भी अनुसंधानकर्त्ता वीरता की महिमा से मंडित नहीं कर सकता। नारियों पर बल-प्रयोग करके और आदर्शों की झूठी दुहाई देकर उन्हें आपत्तियों की आग में झोंकने वाला शासन या समाज प्रशंसा का पात्र नहीं बन सकता। अश्लीलता का प्रदर्शन करने

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वाली कलाएँ कितनी ही श्रेष्ठ क्यों न हों, मूल्य-हीन ही सिद्ध होती हैं। मनोरंजन करने में बाजी मार ले जाने वाला साहित्य यदि मानव-चरित्र को पतन की ओर ले जाने वाले उदाहरण प्रस्तुत करता है, तो उसकी मूल्य-हीनता उसे साहित्य की श्रेणी से निकाल देने के लिए पर्याप्त होती है। ऐसे इतिहास, कला या साहित्य पर कुछ समय के लिए कोई वर्ग या समाज भले ही गर्व कर ले, किन्तु परिणाम विनाशकारी ही सिद्ध होता है। अतः हर विनाशकारी स्थिति से समाज को बचाने के लिए शोध की आवश्यकता होती है। मानव-मूल्यों को समझने वाला शोधकर्त्ता कला, साहित्य या इतिहास के उन समस्त मूल्यों के प्रति समाज को सावधान कर देता है, जिनसे आगे की पीढ़ी पथभ्रष्ट हो सकती थी। इस प्रकार शोधकर्त्ता अपने श्रम और ज्ञान का सुफल केवल अपने समय के समाज को ही नहीं देता, बल्कि भावी समाज का भी मार्ग-दर्शन करता है।

जो कुछ घटित हो चुका है, उसे रोका तो नहीं जा सकता, किन्तु आगे वैसा घटित न हो, यह प्रयत्न तो किया ही जा सकता है। शोध के द्वारा यही प्रयत्न चरितार्थ होता है। अतः जो देश अपने भावी इतिहास को सुधारना चाहता है, वह निरन्तर अपने साहित्य, कलाओं और इतिहास की घटनाओं का अनुसंधान कराता रहता है। शिक्षा को सही दिशा देने में ये अनुसंधान काम आते हैं।

भारतवर्ष एक सहस्र वर्षों से अधिक समय तक परतंत्र रहा। इतिहास लिखने वालों ने इस लम्बी अवधि की घटनाओं और उपलब्धियों को बड़े-बड़े पोथों में प्रस्तुत कर दिया, किन्तु जब तक उन पोथों का इस दृष्टि से अनुसंधान न हो कि वे कौनसे कारण थे जो दीर्घकालीन परतंत्रता में सहायक हुए, तब तक उनको समाज की उन्नति में सहायक नहीं बनाया जा सकता। विदेशी आक्रान्ता यहाँ आये और लूट-मार करके चले गये, या शासक बन गये, इस तथ्य मात्र को इतिहास की सामग्री नहीं माना जा सकता। उन आक्रान्ताओं के काले-कारनामों की भारतीय संदर्भों में मूल्य-परक सही व्याख्या आवश्यक होती है, ऐसी व्याख्या जो भविष्य को एक प्रकाश सौंप सके। यह कार्य शोध के द्वारा ही संभव है और सही शोधकर्त्ता को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

साहित्य में कलात्मक समृद्धि की प्रशंसा एक बात है और उसकी मूल्य-परक छान-बीन दूसरी बात। परतंत्रता के दिनों में पतनशील समाज के सामने शासकों द्वारा रखे गये कलात्मक उच्च प्रतिमान मूल्यों के प्रति नकारात्मक स्थिति के ही प्रतीक कहे जाएँगे। इसी आधार पर एक ओर हिन्दी का भक्तिकालीन काव्य यदि मूल्यों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध साहित्य माना जायेगा, तो रीतिकालीन काव्य उसी की तुलना में विपन्न स्थिति का साहित्य कहा जायेगा, भले ही उसमें आलोचकों को कलात्मक समृद्धि के दर्शन होते हों। चित्र, मूर्ति, नृत्य आदि के साथ भी शोध की यही दृष्टि जुड़ी हुई है।

अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि शोध का मुख्य कार्य उच्च मानव-मूल्यों की रक्षा करना, उन्हें समय की काई से निकालकर समाज के सामने रखना तथा देश के भविष्य को उज्ज्वल बनाने में उनका योगदान कराना है। जिन विद्वानों का शोध-कार्य इस कर्त्तव्य से च्युत होता है, उन्हें समाज का हितैषी नहीं कहा जा सकता।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

17

शोध-प्रबन्ध-लेखन

मानविकी विषयों में शोध-प्रबन्ध-लेखन की कला भी विशेष महत्त्व रखती है। जो शोधकर्मी इस कला में निष्णात नहीं होते, उनका अधिकांश परिश्रम महत्त्वहीन हो जाता है। अतः शोध-कार्य में प्रवेश करते समय उन्हें यह भी समझ लेना चाहिए कि शोध-प्रविधि के इस क्षेत्र में भी उनकी पहुँच है या नहीं ?

शोध-प्रबन्ध-लेखन की प्रक्रिया विषय का निर्धारण करके रूपरेखा बनाते समय ही आरंभ हो जाती है। रूपरेखा ही समस्त शोध-प्रबन्ध-लेखन की दिशा भी निर्धारित करती है। जिस प्रकार आयोजना ठीक न बने तो शोध-कार्य में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं, उसी प्रकार आयोजना का रूप ठीक न हो तो शोध-प्रबन्ध-लेखन भी दिशा-भ्रष्ट हो सकता है।

शोध-प्रबन्ध-लेखन के लिए कई अनिवार्यताएँ हैं। यहाँ उन पर विचार कर लेना आवश्यक है। ये अनिवार्यताएँ दो क्षेत्रों से सम्बन्ध रखती हैं— प्रथम क्षेत्र का सम्बन्ध शोध-निर्देशक तथा शोधकर्त्ता से है और द्वितीय क्षेत्र का सम्बन्ध प्रबन्ध के लिखित रूप से है।

शोध-निर्देशक का सम्बन्ध

शोध-प्रबन्ध-लेखन में शोध-निर्देशक की भी बहुत बड़ी भूमिका रहती है। शोध-कार्य के लिए तो उसका दिशा-निर्देशन महत्त्व रखता ही है, शोध-प्रबन्ध-लेखन में भी उसी का निर्देशन काम आता है। अतः शोध-निर्देशक का सुधी, अनुभवी, विषय-विशेषज्ञ, उदार, सहनशील, स्पष्टवादी, अच्छा भाषा-विद् तथा लेखन-कला में दक्ष होना आवश्यक है। आजकल शोध-निर्देशकों की बाढ़ें आ गई हैं। जो भी प्राध्यापक स्नातकोत्तर कक्षाएँ कुछ वर्षों तक पढ़ा लेता है तथा स्वयं पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त कर चुका होता है, वह शोध-निर्देशक भी बन जाता है। अतः प्रायः सभी स्नातकोत्तर महाविद्यालयों में हर विषय में दर्जनों शोध-निर्देशक मिल जाते हैं। यह भी देखा जाता है कि विभाग की स्नातकोत्तर

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कक्षा में उतने छात्र नहीं होते जितने छात्र विभाग में पी-एच.डी. उपाधि के लिए शोध हेतु पंजीकृत होते हैं। इनमें से अधिकांश शोधार्थी विभाग में महीनों तक दर्शन नहीं देते और अचानक शोध-प्रबन्ध का हस्तलिखित पोथा लेकर शोध-निर्देशक के घर उपस्थित हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में शोध-निर्देशक या तो अपनी सहनशीलता और उदारता खो बैठता है तथा पौथे को उलट-पलट कर एक-दो वाक्यों में पुनः समस्त कार्य करने का निर्देश दे डालता है या "परम उदार न सिर पर कोऊ" की नीति अपनाकर उस पोथे को मन ही मन प्रणाम करता है तथा टंकण की स्वीकृति दे देता है। शोधार्थी के चले जाने पर एक संकट से मुक्ति मान अपने निकटतम मित्र परीक्षकों की सूची विश्वविद्यालय में भेजकर समय पर शोधार्थी की गाड़ी पार करा देता है तथा अपनी योग्यता-सूची में एक नये शोधार्थी के पी-एच.डी. हो जाने की वृद्धि कर लेता है। "हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।" सार बात यही है कि शोध-निर्देशक को नियमानुसार शोधकर्मी के कार्य को नियंत्रित करना चाहिए तथा समय-समय पर उसके लिखित कार्य में संशोधन करते रहना चाहिए। किन्तु यह तभी संभव है, जब शोध-निर्देशक में पूर्वोक्त गुण हों तथा शोध-कार्य के प्रति उसकी पूर्ण आस्था हो।

शोध-कर्त्ता से अपेक्षाएँ

जहाँ शोध-निर्देशक का कार्य नौकरी और पदोन्नति से जुड़ गया है, वहीं शोधकर्त्ता भी बेकारी से जूझता हुआ प्रायः नौकरी के लिए ही शोध-कार्य में प्रवृत्त होने लगा है। अतः अन्य बातों की ओर उसका रुझान अधिक रहता है। "पर-हित निरत" रहकर वह अपनी "नैया पार" करना चाहता है। वस्तुतः शोध-प्रबन्ध-लेखन के लिए शोध-कर्त्ता को निरन्तर विवेचनात्मक टिप्पणियाँ लिखने का प्रयास करना चाहिए। ऐस टिप्पणियों या आलेखों को उसे दुबारा पढ़कर स्वयं परखना चाहिए और फिर शोध-निर्देशक को दिखाते रहना तथा उपयुक्त निर्देश लेना चाहिए। भाषा पर भी उसे अपना अधिकार बढ़ाना चाहिए। निरन्तर भाषा-सम्बन्धी अभिव्यंजना-शक्ति के विकास में प्रवृत्त रहकर उसे अपनी एक विशेष शैली विकसित करनी चाहिए। विषय से सम्बन्धित सामग्री जहाँ भी मिले, उसे पढ़ते रहने की प्रवृत्ति पैदा करनी चाहिए। एक बार लिखी सामग्री को ही आलस्य-वश पर्याप्त मानकर शोध-निर्देशक के पास संशोधन या टंकण-अनुमति के लिए नहीं ले जाना चाहिए, बल्कि कई बार उसे पढ़कर परिमार्जित रूप देना चाहिए। शोध-निर्देशक के पास यों ही नहीं पहुँच जाना चाहिए, बल्कि पहले मिलने का समय तय कर लेना चाहिए। शोध-निर्देशक यदि व्यस्त हो और फिर आने के लिए निर्देश दे, तो खीझना नहीं चाहिए। अपनी क्षमता, कठिन परिश्रम, निरन्तर लेखन-अभ्यास तथा शोध-कर्म के प्रति तल्लीनता ही शोधार्थी के शोध-कार्य को मौलिक बना सकती है।

शोधार्थी में लेखन-क्षमता और भाषा-योग्यता का अभाव हुआ तो कभी भी शोध-प्रबन्ध ठीक ढंग से नहीं लिखा जा सकता। यदि लिख भी लिया गया तो वह पठनीय एवं प्रकाशनीय नहीं बन सकता।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वस्तुतः शोधकर्त्ता को स्वयं आरंभ में ही समझ लेना चाहिए कि वह शोध का अधिकारी भी है या नहीं। जिसने पाठ्य-पुस्तकों एवं कुंजियों आदि के सहारे स्नातकोत्तर उपाधि तो प्रथम श्रेणी में प्राप्त कर ली है, किन्तु एक पत्र भी लिखने में जिसकी कलम हिचकती है, कभी किसी पत्र-पत्रिका के लिए मौलिक लेख लिखने की इच्छा नहीं हुई, ऐसा छात्र सही शोधार्थी नहीं बन सकता। यदि उसने शोध-यात्रा आरंभ भी कर दी तो वह शोध-प्रबन्ध लिख नहीं सकता। कभी-कभी ऐसे तथाकथित शोधार्थी ही इधर-उधर से नकल करके उपधि तो ले लेते हैं, किन्तु उनके शोध-प्रबन्ध को अन्धकार से बाहर अभी कोई नहीं देख पाता। दुःख तो यह है कि ऐसे शोध-कर्म के पश्चात् कुछ वर्षों का अध्ययन-अनुभव लेकर वे स्वयं भी शोध-निर्देशक बन जाते हैं और जब शोध-प्रबन्ध लिखाने की नौबत आती है, तब शोधार्थी को पहले से ही हरी झंडी दिखा देते हैं।

प्रबन्ध-लेखन का दूसरा पक्ष

समर्थ शोध-निर्देशक तथा सक्षम शोधकर्त्ता की प्रथम शर्त पूर्ण हो जाने के पश्चात् प्रबन्ध-लेखन की दूसरी शर्त प्रारंभ होती है। जिस रूपरेखा के अनुसार शोध-कार्य आरंभ किया गया है, उसे पर्याप्त न मानकर शोधकार्य की उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए शोध-प्रबन्ध को तीन भागों में बाँट लेना चाहिए। प्रथम भाग में शोधार्थी को विषय की भूमिका लिखनी चाहिए। यह भाग ही मूल विषय को सही दिशा देता है। अतः इस भाग के अध्यायों या अध्याय का आगे की विवेचन सामग्री से व्यवस्थित सम्बन्ध होना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि भूमिका अनर्गल न हो, न अधिक विस्तार धारण करे। इस बात का भी बराबर ध्यान रहना चाहिए कि विषय के विवेचन का जो क्षेत्र है, उसके पूर्व-परिचय की समस्त सामग्री संक्षिप्त तथा सम्बद्ध रूप में भूमिका में आ जाये। मूल विषय के स्रोत खोजने में इतनी अधिक असम्बद्ध सामग्री न प्रस्तुत कर दी जाये कि जिससे विवेचन के पश्चात् निष्कर्षों का यह पता ही न चले कि वे भूमिका पर आधारित हैं या मूल विषय पर। वस्तुतः शोधार्थी को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि शोध-विषय का सुबोध आधार तैयार हो जाए तथा उस विषय के पूर्ववर्ती कार्यों का संक्षिप्त सिंहावलोकन भी भूमिका भाग में आ जाए।

भूमिका भाग लिख लेने के पश्चात् शोधकर्त्ता को विषय-विवेचन भाग का क्रम-पूर्वक अध्यायों में विभाजन करना चाहिए तथा संग्रहीत सामग्री के आधार पर उपयुक्त उद्धरण देते हुए विषय का विश्लेषण एवं विवेचन करना चाहिए। सम्बन्धित उपलब्ध ज्ञान का यथा-स्थान पुनराख्यान भी करते चलना चाहिए। जो भी तर्क दिए जाएँ तथा उनके लिए जो भी प्रमाण जुटाए जाएँ, उनका पाद-टिप्पणियों में उल्लेख करना चाहिए। पाद-टिप्पणियों में पुस्तक, लेखक, पृष्ठ, संस्करण तथा प्रकाशक का सही-सही उल्लेख होना चाहिए। ये पाद-टिप्पणियाँ प्रत्येक पृष्ठ पर भी दी जा सकती हैं और प्रत्येक अध्याय के अन्त में भी। यह भी हो सकता है कि समस्त शोध-प्रबन्ध लिख जाने के पश्चात् पाद-टिप्पणियाँ एक

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साथ दे दी जाएँ। यह ध्यान रखना चाहिए कि कहीं भी पाद-टिप्पणियाँ दी जाएँ, किन्तु उनकी संकेत-संख्या प्रत्येक पृष्ठ पर सही तथा क्रम-बद्ध ढंग से टंकित की जाए।

विषय का विवेचन अनर्गल तथा मात्र वर्णनात्मक नहीं होना चाहिए। जो कुछ भी कहा जाए, वह निष्कर्षों तक पहुँचाने वाला हो। कोई भी स्थापना आरंभ में ही नहीं कर देनी चाहिए। प्रत्येक स्थापना के पहले उपयुक्त विवेचन करके प्रमाण और तर्क देने चाहिएँ। प्रत्येक अध्याय के अन्त में प्राप्त निष्कर्षों को सार रूप में अवश्य देना चाहिए।

विवेचन के पश्चात् तीसरे भाग उपसंहार आदि की स्थिति आती है। जो भी निष्कर्ष प्रत्येक अध्याय में प्राप्त हुए हैं, उनको व्यवस्थित करके उपसंहार तैयार करना चाहिए तथा उसमें अपने शोध-कार्य की निष्पत्ति देनी चाहिए।

शोध-प्रबन्ध-लेखन की पूर्वोक्त स्थितियों से पार हो जाने के उपरान्त शोधकर्त्ता को आरंभ में एक ऐसी प्रस्तावना प्रस्तुत करनी चाहिए, जिसमें शोध-कार्य की मौलिक उपलब्धियों का उल्लेख हो तथा ज्ञान-सीमा के विस्तार में उसका योगदान स्पष्ट हो सके। शोध-प्रबन्ध के अन्त में उन समस्त ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं की सूची परिशिष्ट में दी जानी चाहिए, जिनकी सहायता ली गई है। यदि कोई विशेष अज्ञात सामग्री मिली हो और जिसके बिना परीक्षक अपना परीक्षण-कार्य न कर सके, तो उसे भी परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

शोध-प्रबन्ध की टंकित प्रतियों में प्रायः टंकण की अशुद्धियाँ रह जाती हैं। शोधकर्त्ता को बहुत सावधानी से उनका निवारण करना चाहिए। अशुद्ध भाषा और अशुद्ध विवरण समस्त शोध-कार्य की गरिमा नष्ट कर देते हैं तथा कभी-कभी शोध-प्रबन्ध अस्वीकृत भी हो जाते हैं।

भाषा-सम्बन्धी शोध-प्रबन्धों का लेखन तब तक पूर्ण नहीं होता, जब तक शोधकर्त्ता प्रस्तावना में यह स्पष्ट न करे कि उसने तथ्य-संकलन के लिए कौन-कौन से साधन अपनाये तथा क्षेत्रीय कार्यों के लिए किन-किन क्षेत्रों को चुना। उसे यह भी बताना चाहिए कि भाषिक नमूने किस प्रणाली से एकत्र किये गये तथा वे किस सीमा तक विश्वसनीय हैं। यदि विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों से साक्षात्कार करके नमूने एकत्र किये गये हों, तो उनका भी उल्लेख प्रस्तावना में किया जाना चाहिए तथा यथावश्यक कुछ नमूने एवं साक्षात्कार परिशिष्ट में दिये जाने चाहिएँ। जो प्रश्नावली शोध-कार्य में सहायक हुई हो, वह भी परिशिष्ट में दी जा सकती है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि शोध-प्रविधि का एक महत्त्वपूर्ण अंग शोध-प्रबन्ध-लेखन भी है। यह वह क्षेत्र है, जिसमें शोधार्थी का अंतिम फल चरितार्थ होता है। शोधकर्त्ता के समस्त श्रम की गरिमा शोध-प्रबन्ध-लेखन के स्तर और स्वरूप पर निर्भर होती है, अतः शोधार्थी को इस ओर आरंभ से ही ध्यान देना चाहिए।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

18

हिन्दी-अनुसंधान : विकास, उपलब्धियाँ और सुझाव

"हिन्दी-शोध" का विकास और उपलब्धिपरक आकलन करने के लिए आरंभ में ही यह स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि उसकी अर्थ-सीमा का विस्तार कहाँ तक माना जाये। शब्दार्थ की दृष्टि से वह समस्त शोध-कार्य, जो हिन्दी भाषा के माध्यम से किया जाये "हिन्दी-शोध" में सम्मिलित किया जा सकता है। साथ ही वह शोध-कार्य भी जो हिन्दी भाषा और उसके साहित्य से सम्बन्धित है— भले ही वह किसी भी भाषा में प्रस्तुत हुआ हो— "हिन्दी-शोध" की अर्थ-सीमा में आता है। किन्तु ये दोनों ही अर्थ-सीमाएँ उस अर्थ को प्रकट नहीं करतीं, जो मूलतः हमारा अभिप्रेत है। हम हिन्दी-शोध के अंतर्गत न तो उस शोध-कार्य को सम्मिलित करना चाहते हैं, जो हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषयों से सम्बन्धित है; और न हम उस शोध-कार्य को ही यहाँ हिन्दी-शोध-कार्य मानना चाहते हैं, जो हिन्दी भाषा और साहित्य से तो सम्बन्धित है, किन्तु जो हिन्दी भाषा में प्रस्तुत न होकर अंग्रेजी, फारसी आदि में प्रस्तुत हुआ है। अतः अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम यह कहना चाहते हैं कि हिन्दी-शोध-कार्य के अंतर्गत हम उस समस्त शोध-कार्य पर विचार करेंगे, जिसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हिन्दी-भाषा और हिन्दी साहित्य से है तथा जिसको हिन्दी भाषा में ही प्रस्तुत किया गया है।

उपर्युक्त सीमा में जब हम आज तक सम्पन्न हुए हिन्दी शोध-कार्य पर दृष्टि डालते हैं, तो हमारे सामने यह तथ्य आता है कि उसका विकास दो रूपों में हुआ है :

1. साधनात्मक शोध-कार्य; और

2. कामनात्मक शोध-कार्य।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रथम प्रकार का शोध-कार्य स्वयं की पूर्ति में एक सिद्धि है और द्वितीय प्रकार का शोध कार्य उससे सम्बद्ध कामना की पूर्ति में सिद्धि बनता है। प्रथम प्रकार का शोध-कार्य या तो उन विद्वानों के द्वारा किया गया है, जो अपने जीवन में हिन्दी भाषा और साहित्य के अतीत और वर्तमान को समृद्ध देखने के आकाँक्षी रहे हैं या उन संस्थाओं के द्वारा कराया गया है जो हिन्दी और उसके साहित्य के विकास को अपना उद्देश्य बनाकर संचालित हुई हैं। द्वितीय प्रकार के शोध-कार्य के पीछे प्रायः इस प्रकार की साधना का अभाव रहा है तथा शोधकर्ता की कामना किसी उपाधि और उसके माध्यम से व्यक्तिगत समृद्धि पर केन्द्रित रही है। हिन्दी में प्रथम प्रकार का शोध-कार्य साधना पर आधारित होने के कारण ही मात्रा में अधिक नहीं है, किन्तु गुण में महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार का शोध-कार्य भाषा और साहित्य दोनों के सम्बन्ध में हुआ है। आचार्य क्षितिमोहन सैन, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र बाबू गुलाबराय एम.ए. आदि विद्वानों ने इसी प्रकार का साधनात्मक शोध कार्य किया है। इनमें से कुछ विद्वानों ने तथ्य-खोज की है और कुछ ने ग्रंथ और ग्रंथकारों का पता लगाया है। यों हिन्दी भाषा और साहित्य को समृद्ध बनाने के लिए की गई इनकी सेवाएँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जिन संस्थाओं ने हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में शोधकार्य कराया है, उनमें नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग आदि के अतिरिक्त विभिन्न शासकीय शोध-विभाग भी अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। इन केन्द्रों से अधिकतर प्राचीन अनुपलब्ध सामग्री के संकलन का अभियान चला है तथा उसके परिचयात्मक विवरण प्रकाशित हुए हैं, जिससे शोध-क्षेत्र की सम्भावनाएँ बढ़ी हैं।

कामनात्मक शोध-कार्य को हम भाषा-परक तथा साहित्य-परक दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं— भाषा-परक शोध-कार्य का आरंभ डॉ. बाबूराम सक्सेना के "अवधी का विकास" ग्रंथ से होता है, किन्तु यह ग्रंथ मूलतः अंग्रेजी में (1931 ई. में) लिखा गया था, अतः हमारी अर्थ-सीमा में नहीं आता। इसी प्रकार का दूसरा शोध-कार्य डॉ. धीरेन्द्र वर्मा का "ब्रजभाषा" ग्रंथ है, जो पेरिस विश्वविद्यालय में डी.लिट्. की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था, किन्तु यह भी हिन्दी में नहीं लिखा गया था। सन् 1954 ई. में इसका हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित हुआ। सन् 1940 में लंदन विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत "जायसी की अवधी" के विशिष्ट संदर्भ में सोलहवीं शती की हिन्दी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन नामक शोध-प्रबन्ध भी अंग्रेजी में लिखा जाने के कारण हिन्दी-शोध की सीमा में नहीं आता। यद्यपि पूर्वोक्त दोनों ग्रंथ तथा श्री लक्ष्मीधर का उपर्युक्त शोध-प्रबन्ध, तीनों से हिन्दी भाषा के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन की परम्परा आरंभ हुई है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम हिन्दी नहीं बन सकी। श्री नलिनी मोहन सान्याल का "बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति तथा विकास" ग्रंथ, जो कलकता विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. के लिए स्वीकृत हुआ था, इस प्रकार चतुर्थ प्रयास है, किन्तु वह भी हिन्दी भाषा में प्रस्तुत

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

न होने के कारण भाषा की मूल अभिव्यक्ति को नहीं पा सका। जो अन्य ग्रंथ भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से शोध-कार्य के रूप में प्रस्तुत हुए और जिनसे हिन्दी का अध्ययन आगे बढ़ा या उसकी बोलियों और उपभाषाओं का स्वरूप स्पष्ट हुआ, उनमें निम्नांकित को महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है :

1. मैथिली भाषा की रूप-रचना (1944 ई.), पटना वि.वि.— श्री सुभद्रा झा।
2. भोजपुरी भाषा की उत्पत्ति तथा विकास (1945 ई.), प्रयाग विश्वविद्यालय —डॉ. उदयनारायण तिवारी।
3. हिन्दी अर्थ-विज्ञान (1954 ई.), प्रयाग विश्वविद्यालय— डॉ. हरदेव बाहरी।
4. मुहावरा-मीमांसा (1949 ई.), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय —डॉ. ओमप्रकाश।
5. भोजपुरी ध्वनियों और ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन (1950 ई.), लंदन विश्वविद्यालय— डॉ. विश्वनाथ प्रसाद।
6. ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली (1955 ई.), आगरा विश्वविद्यालय — डॉ. कपिलदेव सिंह।
7. कृषक-जीवन सम्बन्धी शब्दावली (1956 ई.), आगरा विश्वविद्यालय — डॉ. अम्बा प्रसाद सुमन।
8. हिन्दी अर्थ-विचार (1960 ई.), कलकत्ता विश्वविद्यालय— डॉ. शिवनाथ।
9. भक्तिकालीन हिन्दी सन्त साहित्य की भाषा (1960 ई.), आगरा विश्वविद्यालय — डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल।

इन शोध-प्रबन्धों के अतिरिक्त जो शोध-प्रबन्ध भाषा वैज्ञानिक शोध की दृष्टि से लिखे गये, उनको प्रकाशन के अभाव, विषय की सामान्यता अथवा विवेचन के उथलेपन के कारण भाषावैज्ञानिक ज्ञान-वृद्धि में अधिक सहायक नहीं माना जा सकता।

साहित्य-सम्बन्धी शोध के दो रूप हैं— प्रथम प्रकार के शोध प्रबन्ध वे हैं, जो लोक-साहित्य के अनुसंधान को प्रस्तुत करते हैं और द्वितीय प्रकार के ग्रंथ शिष्ट-साहित्य का अन्वेषण करते हैं। प्रथम प्रकार के कार्य की परम्परा डॉ. जयकान्त मिश्र के शोध ग्रंथ "मैथिली साहित्य का संक्षिप्त इतिहास" से आरंभ हुई थी। यह प्रबन्ध सन् 1948 ई. में प्रयाग विश्वविद्यालय में डी.फिल. के लिए स्वीकृत हुआ था। किन्तु यह ग्रंथ प्रकाशित नहीं हो सका। उसके पश्चात् सन् 1949 ई. में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. के लिए डॉ. सत्येन्द्र का शोध-प्रबन्ध "ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन" स्वीकृत हुआ, जो प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रंथ ने लोक साहित्य के अध्ययन के लिए कई लोगों को प्रोत्साहित किया। सन् 1951 में डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय का "भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन" ग्रंथ लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच.डी. उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ और सन् 1961 में इसका प्रकाशन भी हुआ। लोक-साहित्य के अध्ययन में इस ग्रंथ को एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कहा जा सकता है। "भोजपुरी लोकगाथा का अध्ययन" नाम से प्रकाशित डॉ. सत्यव्रत सिंह का डी.फिल. के लिए प्रयाग विश्वविद्यालय से 1953 में स्वीकृत शोध-ग्रंथ

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भोजपुरी लोक साहित्य के अध्ययन को निःसंदेह आगे बढ़ाता है। इस क्षेत्र में डॉ. सत्येन्द्र का "मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का लोकतान्त्रिक अध्ययन" ग्रंथ, जो आगरा विश्वविद्यालय से 1957 ई. में डी.लिट्. के लिए स्वीकृत हुआ था, लोक-साहित्य और शिष्ट साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध को जोड़ने वाली और दोनों के जीवन्त तत्त्वों को स्पष्ट करने वाली एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

शिष्ट साहित्य का अनुसंधान करते समय शोधकों का ध्यान केवल साहित्य पर ही केन्द्रित नहीं रहा, उन्होंने साहित्यकारों के जीवन और युगीन परिस्थितियों को भी समझा है तथा पारस्परिक सम्बन्धों और प्रभावों की खोज भी की है। उन्होंने स्वतंत्र रूप से भी कृतित्व के उन प्रेरक तत्त्वों को खोज निकाला है, जो सर्जन को विभिन्न रूपों में प्रभावित करते हैं। यों शोध के परिणाम नितांत आश्वस्त करने वाले रहे हैं। विभिन्न लेखकों और कवियों के जीवन के संबंध में अज्ञात सामग्री की ही खोज नहीं की गयी, उनकी अज्ञात रचनाओं को भी खोज निकाला गया है तथा उनकी प्रामाणिकता की परख की गई है। कवि के जीवन और युग की प्रवृत्तियों के संदर्भ में उसके साहित्य का मूल्यांकन प्रस्तुत करने वाले महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबंध निम्नांकित हैं :

(1) तुलसीदास : जीवनी और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन

यह ग्रन्थ प्रयाग विश्वविद्यालय की डी. लिट्. उपाधि के लिए 1940 ई. में स्वीकृत हुआ था और 1942 में प्रकाशित भी हुआ। इसमें डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने प्रथम बार तुलसी के जीवन और कृतियों के संबंध में अनेक नये तथ्य प्रस्तुत किये तथा अनेक ग्रंथों का निराकरण हुआ।

(2) सूरदास्य : जीवन और कृतियों का अध्ययन

यह शोध प्रबंध डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा ने सन् 1945 में प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रस्तुत करके डी. फिल. की उपाधि पाई थी। इस ग्रंथ का भी प्रकाशन हो चुका है। इसमें लेखक ने प्रथम बार सूरदास के जीवन और ग्रन्थों की छानबीन की तथा प्रामाणिकता पर विचार किया और कृतित्व पर भी विस्तार से प्रकाश डाला।

(3) रीतिकाव्य की भूमिका और देव

इस वर्ग का तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ डॉ. नगेंद्र रचित "रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता" है, जिस पर उन्हें आगरा विश्वविद्यालय से सन् 1946 ई. में डी. लिट. की उपाधि मिली थी। यह ग्रंथ प्रारंभ में एक जिल्द में प्रकाशित हुआ था, बाद में उसका द्वितीय संस्करण दो भागों में छपा। रीतिकाल की भूमिका को स्पष्ट करते हुए डॉक्टर नगेन्द्र ने पहली बार इस ग्रंथ में महाकवि देव के जीवन और कृतियों की ही खोज नहीं की, अपितु उनके काव्य-वैभव को भी प्रकाशित किया। डॉ. नगेंद्र का यह शोध-कार्य अनेक दृष्टियों से आगे के शोध-कर्त्ताओं के लिए दिशा-निर्देशक सिद्ध हुआ।

इस वर्ग के अन्य महत्त्वपूर्ण शोध-ग्रन्थों में तुलसीदास और उनका युग (डॉ. राजपति दीक्षित), अकबरी दरबार के हिन्दी कवि "(डॉ. सरयूप्रसाद अग्रवाल), आचार्य

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

केशवदास : एक अध्ययन" (डॉ. हीरालाल दीक्षित), मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (डॉ. सावित्री), आचार्य भिखारीदास (डॉ. नारायणदास खन्ना), सूर और उनका साहित्य (डॉ. हरवंशलाल शर्मा), डॉ. रांगेय राघव : जीवन और साहित्य (डॉ. दिनेश के निर्देशन में डॉ. विश्वम्भर व्यास द्वारा लिखित) आदि की गणना की जा सकती है। इन ग्रंथों से हिन्दी साहित्य के अनेक नये ग्रंथों और उनके रचयिताओं का अध्ययन प्रस्तुत हुआ है।

शिष्ट साहित्य का अध्ययन हिन्दी में प्रवृत्तियों की दृष्टि से भी अत्यधिक संतोषजनक रूप में हुआ है। दर्शन की विभिन्न धाराओं और मानवीय चिंतन के विभिन्न दृष्टिकोणों से साहित्य को देखा-परखा गया है। साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों पर भी अनेक कृतियों को कसा गया है तथा जो भी परिणाम उपलब्ध हुए हैं, वे हिन्दी साहित्य की समृद्धि ही नहीं करते, गौरव-वृद्धि भी करते हैं। भारतीय और पाश्चात्य जीवन-दृष्टियों से कृतियों का मूल्यांकन करके शोधकर्त्ताओं ने हिन्दी साहित्य के समस्त दाय को भविष्य के हाथों में सुरक्षित कर दिया है। प्रवृत्तियों के अंतर्गत जो शोध-कार्य हुआ है, उसमें हम आधुनिक कविता में निराशावाद और हिन्दी काव्य में नियतिवाद ग्रंथों को उपलब्धियों की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण पाते हैं। प्रथम ग्रंथ में डॉ. शंभूनाथ पाण्डेय ने आधुनिक कविता की एक प्रेरक प्रवृत्ति के रूप में निराशावाद को देखा है। हिन्दी काव्य में नियतिवाद (डॉ. दिनेश) जो कि सन् 1960 में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. के लिए स्वीकृत हुआ और 1963 में प्रकाशित हुआ, आदिकाल से आधुनिक काल तक के समस्त काव्य का नियतिवादी दृष्टि से अनुशीलन प्रस्तुत करता है। इस ग्रंथ में पहली बार समस्त हिन्दी काव्य के पीछे निहित भारतीय जीवन-दर्शन और उसके कलापरक प्रभावों को गंभीरतापूर्वक उद्घाटित किया गया है। छायावाद, प्रगतिवाद, स्वच्छन्दतावाद और गाँधीवाद जैसी आधुनिक साहित्य प्रवृत्तियों का भी अनुशीलन कई दृष्टियों से कुछ शोधकर्त्ता प्रस्तुत कर चुके हैं।

हिन्दी साहित्य का निर्माण मध्यकाल तक या तो विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में होता रहा था या राजाश्रय में शास्त्रीय सम्प्रदायों में हुआ था। कई शोधकर्त्ताओं ने उन सब सम्प्रदायों का भी अलग-अलग विस्तार से अनुशीलन किया है और इस प्रकार उन संप्रदायों के साहित्यों का गौरव प्रकाश में आया है। डॉक्टर विजयेन्द्र स्नातक का "राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य" इस वर्ग का एक महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध है। अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय डॉक्टर दीनदयाल गुप्त का इसी वर्ग का एक अन्य श्रेष्ठ शोध-ग्रंथ कहा जा सकता है। नाटक, उपन्यास, कहानी, गद्य-काव्य, निबंध, काव्यशास्त्र आदि पर भी हिन्दी में विभिन्न दृष्टियों से शोध-कार्य हुआ है। नाटक पर शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से डॉक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का "प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन" महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उपन्यास-साहित्य पर डॉ. देवराज उपाध्याय ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से "हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान" ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथ ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन की परम्परा आगे बढ़ाई है। कहानियों पर डॉक्टर लक्ष्मीनारायण लाल का "हिन्दी कहानी की शिल्प-विधि का विकास" ग्रंथ एक उपलब्धि कहा जा सकता है। डॉ. पदमसिंह शर्मा 'कमलेश' ने "हिन्दी गद्य-काव्य का विकास" शोध-ग्रंथ लिखकर गद्य-काव्य के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दार्शनिक दृष्टि को स्पष्ट करने वाले शोध-प्रबन्ध भी हिन्दी में कई लिखे गये हैं और उनमें से कुछ ऐसे हैं, जिनसे निश्चय ही प्रथम बार हिन्दी कवियों की समस्त मानसी भूमिका का अनावरण हुआ है। ऐसे शोध-प्रबंधों में डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र का "तुलसी दर्शन" व डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत का "कबीर की विचारधारा" अविस्मरिणीय हैं।

साहित्यशास्त्र और साहित्येतिहास का भी अनुसंधान विस्तार और गंभीरता से हुआ है। संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों की विभिन्न शास्त्रीय स्थापनाएँ केवल खोजी ही नहीं गयीं ; उनकी एक समृद्ध परम्परा के रूप में ढंग से व्याख्याएँ भी सामने आई हैं और अनके नये तथ्यों का व्याख्यान-पुनराख्यान हुआ है। इसके साथ-साथ शोधकों का ध्यान साहित्यशास्त्र के इतिहास पर भी गया है। इस क्षेत्र में जो शोध-प्रबंध विशेष महत्त्वपूर्ण कहते जा सकते हैं, उनके नाम हैं—हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास (डॉ. रसाल), मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धांत का समालोचनात्मक अध्ययन (डॉ. राकेश) हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास (डॉ. भागीरथ मिश्र), ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत (डॉ. भोलाशंकर व्यास)। साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने वाले ग्रंथों में डॉक्टर राम कुमार वर्मा का हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. श्रीकृष्ण लाल का 'हिन्दी साहित्य का विकास' तथा 'हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका' (डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय) प्रमुख हैं। इन ग्रंथों में प्रथम बार वैज्ञानिक ढंग से हिन्दी साहित्य का विकासात्मक अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। इस परम्परा का नवीन शोध-ग्रंथ डॉ. रामगोपाल सिंह चौहान का "आधुनिक हिन्दी साहित्य" है।

पाठालोचन की ओर भी हिन्दी शोध-कर्त्ताओं का ध्यान गया है तथा कई ग्रंथ शुद्ध रूप में संपादित होकर प्रकाशित हुए हैं। इस क्षेत्र की उपलब्धियों में हम श्री पारसनाथ तिवारी द्वारा संपादित 'कबीर-ग्रंथावली' को प्रथम स्थान दे सकते हैं। आचार्य विश्वनाथ मिश्र तथा परशुराम चतुर्वेदी ने कई कवियों की ग्रंथावली संपादित की है। श्री तारकनाथ अग्रवाल ने बीसलदेव रासो का संपादन करके पाठालोचन-संबंधी शोध को आगे बढ़ाया है। कई विश्वविद्यालयों में पी-एच. डी. की उपाधि के लिए कई शोधार्थी पाठालोचन-संबंधी कार्य करने में जुटे हैं। डॉ. माताप्रसाद गुप्त तथा डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त ने भी पाठालोचन का कार्य किया है। इस ग्रंथ के लेखक ने भी सूरति मिश्र की ग्रंथावली का सम्पादन किया है।

बाल-साहित्य आदि पर भी हिन्दी में शोध-कार्य हुआ है। विभिन्न प्रभावों की भी खोज की गयी है। रीतिकाव्य का आधुनिक कविता पर प्रभाव डॉ. रमेश कुमार शर्मा का इस वर्ग का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध है। तुलनात्मक अध्ययन की भी सीमा का विस्तार हिन्दी शोध ने किया है। विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य से विभिन्न दृष्टियों से तुलना की गयी है तथा अनेक विषय इस प्रकार के स्वीकृत हो चुके हैं, जिन पर कार्य हो रहा है। इस प्रकार के अध्ययन से विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य परस्पर निकट आये हैं और अखंड भारत की कल्पना को बल मिला है।

विभिन्न समाजशास्त्रीय दृष्टियों से भी हिन्दी के ग्रंथों का मन्थन किया गया है। यों हिन्दी साहित्य की जीवन-गत समस्त स्थितियाँ हिन्दी शोध के द्वारा स्पष्ट हुई हैं। विभिन्न

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विज्ञानों से भी संबंध जोड़ा गया है तथा पशु-पक्षी एवं वनस्पतियों तक की साहित्य में हुई अभिव्यक्ति को खोजा गया है।

अब तक उपर्युक्त शोध-कार्य के अतिरिक्त भी कई क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण शोध कार्य हुआ है, वह विस्तार और गांभीर्य दोनों दृष्टियों से हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का मस्तक ऊँचा करता है। अनके नवीन विषयों पर विभिन्न विश्वविद्यालयों में जो शोध-कार्य चल रहा है, वह जब पूर्ण हो जायेगा, तब निश्चय ही हिन्दी का समस्त भाषा वैज्ञानिक और साहित्यिक गौरव लोगों के सामने आ सकेगा। हमें उसके प्रति आशावान रहना चाहिए। संख्या देखकर हमें निराधार यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए कि हिन्दी का शोध-कार्य निराशाजनक है। जो कार्य हुआ है, वह अनेक स्तरों पर ज्ञान की सीमाएँ विस्तृत करता है तथा उनमें नयी समृद्धि लाता है। हिन्दी राष्ट्र की भाषा है, अतः अगर उसमें सबसे अधिक शोध-कार्य अब तक हो चुका है या आगे होने वाला है, तो यह चिंता का विषय नहीं होना चाहिए, अपितु हमें इस पर गर्व का अनुभव करना चाहिये।

निश्चय ही हिन्दी के शोधार्थी अपने कर्त्तव्य को समझते हैं और वे जिन दिशाओं में नये सत्यों का साक्षात्कार कर रहे हैं, वे दिशाएँ हमारे जीवन के भावी विकास में सहायक होंगी।

विशेष

अब तक हमने हिन्दी शोध-कार्य का एक सर्वेक्षण विस्तार व गुणवत्ता की सामान्य दृष्टि से प्रस्तुत किया। यहाँ हम अधिक गहराई में जाकर अपने पाठकों को यह बताना चाहेंगे कि विस्तार की दृष्टि से ही नहीं, गंभीरता की दृष्टि से भी कितना महत्त्वपूर्ण कार्य हिन्दी में हुआ है। हमारे शोध विद्वानों ने जिस किसी विषय को शोध का लक्ष्य बनाया है, उसका प्रत्येक कोना झाँकने और परिणामों तक पहुँचने की उन्होंने चेष्टा की है। इस कथन के सत्य को समझने के लिए हम यहाँ तक विशेष कवि तुलसीदास के काव्य पर हुए अनुसंधान की विस्तृत चर्चा करना उपयुक्त समझते हैं।

तुलसी-सम्बन्धी शोध

तुलसीदास मध्यकालीन भारतीय मनीषा, जिजीविषा और आशा-आकाँक्षा का अवतार थे। भारतीय जनमानस पर अब तक उनकी अमर मूर्ति अंकित है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार किया है कि संसार में ऐसा कोई कवि नहीं हुआ, जिसे तुलसी के समान लोकप्रियता प्राप्त हुई हो। वस्तुतः इस महाकवि ने जन-हृदय के माध्यम से ही आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार किया था। यही कारण है कि उसने अपने साहित्य को ही नहीं जीवन को भी रहस्यमय बनाकर छोड़ दिया है। जहाँ अनेक कवि अपनी रचनाओं में प्रत्यक्षतः आत्म-परिचय प्रस्तुत करने को प्रेरित हुए, वहाँ महाकवि तुलसीदास ने अपने विषय में सब कुछ अकथित ही रहने दिया। यही कारण है कि विगत सौ-सवा सौ वर्षों में गंभीरता-पूर्वक तुलसी के जीवन और साहित्य को अनुसंधान हो रहा है, किन्तु अधिकांश बातें अब भी रहस्यमय बनी हुई हैं।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(1) शोध की आधारभूत सामग्री

तुलसी के जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में शोध करने वाले विद्वानों के सामने सबसे बड़ी समस्या आधारभूत सामग्री से सम्बन्धित है। किसी भी कवि के सम्बन्ध में अनुसंधान के लिए दो स्रोतों से सामग्री मिलती है— अन्तः साक्ष्य और बाह्य साक्ष्य। जहाँ तक अन्तःसाक्ष्य का प्रश्न है, तुलसी ने ऐसे बहुत कम संकेत अपनी रचनाओं में दिये हैं जिनसे उनके जीवन और साहित्य-साधना का पूर्ण स्वरूप समझा जा सके। बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत गौसाई-चरित, मूल गोसाई-चरित, तुलसी चरित, भक्तमाल, प्रियादास की टीका, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, तुलसीदास स्तव एवं "भविष्य पुराण" नामक ग्रंथ तथा काशी, अयोध्या, राजापुर एवं सौरों में विभिन्न रूपों में उपलब्ध सामग्री तथा जनश्रुतियों को सम्मिलित किया जाता है। इसी सामग्री के आधार पर अब तक तुलसी-सम्बन्धी समस्त शोध कार्य चल रहा है।

(2) शोध-कार्य का प्रारंभ

तुलसी जन-मानस से अभिन्न हो जाने के कारण, साधारण पाठकों के लिए शोध का विषय नहीं रह गये थे। यही कारण है कि लगभग ढाई सौ वर्षों तक उनके संबंध में खोज-बीन करने की इच्छा तक भारतीय पाठकों और विद्वानों के हृदय में उत्पन्न नहीं हुई। सबसे पहले सन् 1931 ई. के पाश्चात्य विद्वान एच. एच. विल्सन ने इस ओर ध्यान दिया। यद्यपि उन्होंने तुलसी के संबंध में सामान्य जानकारी ही प्रस्तुत की, तथापि एक ऐसा मार्ग बनाने का श्रेय उन्हें मिला, जिस पर बड़े उत्साह से अनेक पाश्चात्य एवं प्राच्य विद्वान अभी तक चले आ रहे हैं।

(3) पाश्चात्य विद्वानों का शोध-कार्य

तुलसी-सम्बन्धी कार्य के जन्मदाता एच.एच. विल्सन ने कोई स्वतंत्र शोध-ग्रंथ नहीं लिखा। एशियाटिक रिसर्च के 1835 ई. में प्रकाशित भाग 18 में "रिलिजियस सैक्ट्स ऑफ हिन्दूज" नामक केवल एक निबंध उन्होंने छपाया था। इस निबन्ध में धार्मिक संदर्भ में तुलसीदास का स्मरण किया गया है और इसी प्रसंग में उनके जीवन के विषय में अनुश्रुतियों के आधार पर कुछ तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं। उन्होंने जनता में प्रचलित तुलसी-जीवन-विषयक सामान्य तथ्यों का संकलन मात्र किया है। अतः उनके द्वारा प्रस्तुत सामग्री, शोध-कार्य की प्रारम्भिक देन से अधिक कुछ नहीं मानी जा सकती।

विल्सन के निबन्ध के 8 वर्ष पश्चात् सन् 1839 ई. में फ्रांस के विद्वान गार्सा द तासी ने "इस्त्वार द लितरेत्यूर ऐंदुई-ए-ऐंदुस्तानी" नामक ग्रंथ प्रकाशित कराया। हिन्दी साहित्य का यह प्रथम इतिहास माना जाता है। इस ग्रंथ में तासी ने तुलसी के जीवन के सम्बन्ध में परम्परा से प्राप्त तथ्यों को ही प्रस्तुत किया है। विल्सन ने अपने निबंध में तुलसी के जन्म, जाति, पत्नी-प्रेम, गृह-त्याग, भ्रमण, हनुमान का दर्शन, शाहजहाँ का कोप और उससे मुक्ति आदि जिन तथ्यों का आकलन किया था, उन्हीं को तासी ने भी कुछ नये ढंग से

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दोहराया है। आधार में मात्र वे जनश्रुतियों ही रही हैं, जिन्हें विल्सन ने भी सत्य माना था। उन्हीं के अनुसार तासी ने तुलसी के पिता का नाम आत्माराम पंत और पत्नी का नाम ममता देवी बतलाया है। तुलसी के साहित्य के विषय में तासी ने कोई खोजपूर्ण बात नहीं लिखी, केवल रामचरितमानस के काण्डों का चलता हुआ परिचय दिया है और कहा है कि इस काव्य की रचना "पूर्वी हिन्दुई" में हुई है। तुलसी-साहित्य के तीसरे पाश्चात्य अध्येता एफ.एस. ग्राउज माने जाते हैं। इन्होंने "रामायण ऑफ तुलसीदास" ग्रंथ की रचना की। रामचरितमानस का अंग्रेजी में अनुवाद करके उसकी जो भूमिका ग्राउज ने लिखी, उससे प्रथम बार तुलसी-सम्बन्धी शोध-कार्य को एक महत्त्वपूर्ण दिशा मिली। उन्होंने तुलसी के जीवन-चरित पर पूर्व विद्वानों की तुलना में कुछ अधिक प्रामाणिकता से प्रकाश डाला तथा तुलसी के साहित्य को भी प्रत्यक्षतः अध्ययन का विषय बनाया। उन्होंने रामचरित मानस की कथागत विशेषताओं, पात्रों के चरित्र-संघटन तथा काव्य-शिल्प की मौलिकताओं का भी संक्षेप में उद्‌घाटन किया और यह स्थापना की कि तुलसी-कृत रामचरितमानस वाल्मीकि रामायण का अनुकरण नहीं है अपितु उसमे अनेक दृष्टियों से मौलिक मार्ग अपनाया गया है। यथा, तुलसी ने रामकथा को अपने ढंग से कहीं विस्तार और कहीं संकोच देकर प्रस्तुत किया है एवं वाल्मीकि की व्यास-शैली के स्थान पर उन्होंने समास शैली अपनाई है। ग्राउज पहले विचारक थे, जिन्होंने तुलसी-काव्य की भाषागत सम्पन्नता का भी गंभीरता से उद्‌घाटन किया है।

ग्राउज के पश्चात् तुलसी-सम्बन्धी शोध-कार्य को आगे बढ़ाने वाले विद्वानों में डॉ. ग्रियर्सन का महत्त्वपूर्ण नाम आता है। इन्होंने सन् 1889 ई. में "दि वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑफ हिन्दुस्तान" नामक ग्रंथ प्रकाशित कराया। इस ग्रन्थ में प्रथम बार तुलसीदास के सम्बन्ध में तथ्याधारित सामग्री प्रस्तुत हुई है। सन् 1893 में उन्होंने "नोट्स ऑन तुलसीदास" नामक एक निबन्ध "इण्डियन एण्टीक्वेटी" में छपाया तथा 1903 ई. में "एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल" में "तुलसीदास : कवि एवं धर्म सुधारक" नाम से उनका एक अन्य निबन्ध प्रकाशित हुआ। इन रचनाओं के माध्यम से ग्रियर्सन ने प्रथम बार तुलसी-सम्बन्धी अध्ययन को वास्तविक शोध-कार्य का रूप दिया। उन्होंने तुलसीदास के जीवन से सम्बन्धित सामग्री की वैज्ञानिक ढंग से छानबीन की तथा कृतियों की नामावली एवं रचनाकाल पर भी प्रकाश डाला। तुलसी के व्यक्तित्व के निर्धारण में उन्होंने सभी उपलब्ध साधनों का उपयोग करने की चेष्टा की तथा तुलसीदास की काव्य-प्रतिभा का भी यथा-सम्भव आकलन किया। उन्होंने तुलसी की धार्मिक देन का विश्लेषण कर यह तथ्य प्रतिपादित किया कि तुलसी केवल धर्म-सुधारक ही नहीं, एक श्रेष्ठ महाकवि भी थे। इस निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए ग्रियर्सन ने तुलसी-साहित्य के विभिन्न कलात्मक पक्षों पर भी प्रकाश डाला और जो कुछ कहा, उसके लिए पर्याप्त आधार प्रस्तुत किये।

डॉ. ग्रियर्सन ने तुलसी-सम्बन्धी शोध-कार्य को एक वैज्ञानिक दिशा में मोड़कर जो पथ प्रशस्त किया था, उस पर चलने वाले पाश्चात्य विद्वानों में सर्वप्रथम स्मरणीय है-- एडविन ग्रीव्ज। उन्होंने एक लेख लिखकर तुलसीदास के जीवन पर विस्तार से प्रकाश

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

डाला। यह लेख "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" में सन् 1899 में प्रकाशित हुआ था। ग्रीव्ज ने तुलसी के जीवन परिचय को प्रामाणिक रूप देने की चेष्टा की है, किन्तु प्राप्त तथ्यों की छानबीन करके वे कोई विशेष मौलिक बात नहीं कर सके हैं। जीवन-परिचय के अन्तर्गत उन्होंने यही बताया है कि तुलसीदास सन् 1545-1555 के मध्य राजापुर में उत्पन्न हुए थे, उनका जन्म का नाम रामबोला, पिता का आत्माराम, माता का हुलसी तथा गुरु का नाम नरहरि था। तुलसी की काव्यगत उपलब्धियों के सम्बन्ध में ग्रीव्ज का अनुसंधान निश्चय ही महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। उन्होंने ग्रियर्सन से भी एक चरण आगे बढ़कर तुलसी की काव्य-प्रतिभा एवं शिल्प-क्षमता का उद्‌घाटन किया है।

ग्रीव्ज के पश्चात् टेसीटोरी का "इल रामचरित मानस इल रामायण" नामक निबंध, जो 1911 ई. मे प्रकाशित हुआ, स्मरणीय है। इस निबंध में विद्वान लेखक ने वाल्मीकि रामायाण तथा तुलसीकृत रामचरितमानस की संक्षेप में तुलना की है और यह निष्कर्ष निकाला है कि वाल्मीकि के विपरीत तुलसी का कथा-संघटन अधिकांशतः नैतिक आदर्शपरक है एवं घटना-प्रवाह में प्रायः यथार्थ का प्रभाव पाया जाता है उनकी दृष्टि में तुलसी का काव्य-शिल्प वाल्मीकि से अधिक प्रौढ़ एवं सक्षम है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में पाश्चात्य विद्वानों ने तुलसी-सम्बन्धी जो शोध-कार्य किया, उसमें जे. ई. कारपेंटर कृत "थियोलॉजी ऑफ तुलसीदास" का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रंथ में प्रथम बार विस्तार से तुलसी के आध्यात्मिक एवं धार्मिक विचारों का विवेचन मिलता है, किन्तु इस अध्ययन की सबसे बड़ी सीमा यह है कि कारपेंटर ने तटस्थ दृष्टि का बहुत कम परिचय दिया है एवं अधिकांश स्थलों पर उसकी ईसाई विचार-धारा प्रभावी रही है।

कारपेंटर के पश्चात् एफ. ए. केई में पुनः हमें एक तटस्थ तथा शोध-पूर्ण दृष्टि मिलती है। उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास पर ग्रंथ लिखते समय तुलसी पर भी गंभीरता से विचार कर यह सिद्ध किया कि रामचरित मानस की रचना का मूल स्रोत, वाल्मीकि रामायण नहीं, अपितु अध्यात्म रामायण है। "केई" ने यह भी सिद्ध किया कि रामचरितमानस संसार के उत्कृष्टतम महाकाव्यों में शीर्षस्थ है।

बीसवीं शताब्दी के मध्यबिन्दु पर पाश्चात्य मनीषी कामिल बुल्के का शोध-कार्य सर्वाधिक महत्त्व के साथ स्थापित हुआ। उन्होंने सन् 1950 ई. में 'रामकथा' नामक शोध-ग्रंथ प्रकाशित कराया, जिसमें संदर्भानुसार तुलसी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर भी प्रकाश डाला गया है। कामिल बुल्के ने भी यह स्वीकार किया है कि तुलसी की रामचरितमानस पर अध्यात्म रामायण का प्रभाव अधिक है।

डगलस पी. हिल छठे दशक के तुलसी-सम्बन्धी अन्य महत्त्वपूर्ण पाश्चात्य अध्येता हैं, जिन्होंने 'दि होली लेक ऑफ दि एक्ट्स ऑफ राम' नामक ग्रंथ सन् 1952 में प्रकाशित कराया। इस ग्रंथ में उन्होंने तुलसी के आध्यात्मिक एवं धार्मिक विचारों को अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया है। जहाँ उनकी दृष्टि तुलसी के साहित्यिक पक्ष पर गई है, वहाँ भी उन्होंने उसकी

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्रेष्ठता के लिए धार्मिकता को ही श्रेय दिया है। तुलसी सम्बन्धी पाश्चात्य शोध-कार्य की अंतिम कड़ी हैं— रूसी लेखक ए. पी. बरान्नीकौव। उन्होंने 1952 ई. में रामचरितमानस का रूसी भाषा में पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। इस ग्रंथ की विस्तृत भूमिका में तुलसी-सम्बन्धी शोध-कार्य को एक नई दिशा मिली है। बरान्नीकौव ने तुलसी के जीवन और साहित्य को उनके युग की पृष्ठभूमि पर परख कर प्रतिभा, कला और दार्शनिकता का गंभीरता से मंथन किया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि तुलसी एक महान् दृष्टा, समाज-प्रणेता तथा सांस्कृतिक निर्माता थे। इसी प्रकार तुलसी के काव्य-सौष्ठव एवं कलात्मक गौरव को प्रस्थापित करने में भी पाश्चात्य विचारक ने पर्याप्त मौलिक एवं तटस्थ दृष्टि से काम लिया है।

बरान्नीकौव ने तुलसी के व्यक्तित्व को ऐतिहासिक परिप्रेक्षय में तथा कृतित्व को शास्त्रीय आधारों पर समझने की चेष्टा की है। फलतः उनका शोध-कार्य तुलसी-साहित्य के साहित्यिक सौंदर्य के उद्घाटन में पर्याप्त सफल माना जा सकता है। काव्य शिल्प के मूल रूपों और शैली प्रयोगों को भी उन्होंने गंभीरता से समझाया है तथा भाषागत वैशिष्ट्य का भी उद्घाटन किया है। अतः तुलसी-सम्बन्धी पाश्चात्य शोध-कार्य में बरान्नीकौव का योगदान सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

(4) भारतीय विद्वानों का शोध-कार्य

तुलसी-सम्बन्धी पाश्चात्य शोध-कार्य में हमने सामान्य परिचयात्मक अध्ययन भी सम्मिलित किया है, क्योंकि एक हिन्दी कवि के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की शोध-जिज्ञासा का वह स्तर भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता; किन्तु भारतीय विद्वानों के सामान्य कार्य को शोध के अन्तर्गत सम्मिलित करना उचित नहीं, क्योंकि लोकप्रिय तुलसी-साहित्य के सम्बन्ध में सामान्य तथ्यों का ज्ञान होना एक सहज बात है। अतः शिवसिंह सैंगर द्वारा शिवसिंह सरोज में प्रस्तुत तुलसी का सामान्य परिचय विशुद्ध शोध-कार्य की सीमा में नहीं आता। हम इस कार्य को शोध-कार्य की प्रस्तावना मात्र मान सकते हैं।

वस्तुतः तुलसी-विषयक शोध-कार्य का प्रथम आवश्यक अंग था— तुलसी की कृतियों का निर्णय और प्रामाणिक पाठ सम्पादन। इस दिशा में सन् 1885 ई. में भागवतदास खत्री का महत्त्वपूर्ण साधना-फल रामचरित मानस के सम्पादित पाठ के रूप में हिन्दी-जगत् के समक्ष प्रस्तुत हुआ। विवेचनात्मक शोध के समान इस कार्य का भले ही अधिक महत्त्व न हो, किन्तु मूल कृति को शुद्ध में प्रस्तुत करना भी अपने-आप में एक प्रशंसनीय उपलब्धि थी। सन् 1902 ई. में इसी क्रम में रामचरित मानस का नया सम्पादित पाठ सुधाकर द्विवेदी, राधाकृष्ण दास, बाबू श्यामसुन्दरदास, बाबू कार्तिक प्रसाद एवं बाबू अमीरसिंह ने प्रस्तुत किया। इस संपादन के साथ एक संक्षिप्त भूमिका भी थी, जिसमें शोध-पूर्ण दृष्टि से तुलसी के जीवन एवं साहित्य की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। लगभग 6 वर्ष पश्चात् लाला सीताराम

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ने भी मानस के अयोध्या काण्ड का राजापुर की प्रति के आधार पर पाठ-संपादन किया था। 1914 ई. में तुलसीदास की रामायण की 'मौलिकता' शीर्षक खोजपूर्ण लेख छपाया। इस लेख से चार वर्ष पूर्व सन् 1910 ई. में मिश्रबन्धु अपना 'हिन्दी-नवरत्न' ग्रंथ प्रकाशित करा चुके थे, किन्तु उसमें शोध की अपेक्षा परिचयात्मक समीक्षा की दृष्टि ही अधिक महत्त्व प्राप्त कर सकी थी। अतः हम इस ग्रंथ को तुलसी-विषयक शोध-कार्य की एक कड़ी नहीं मान सकते।

सन् 1916 ई. में शिवनन्दन सहाय ने "श्री गोस्वामी तुलसीदासजी" नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें जनश्रुतियों के आधार पर तुलसी के जीवन की शोध-पद्धति से विवेचना की गयी है, किन्तु इसमें प्रामाणिक सूत्रों का आभाव है। इसी प्रकार तुलसी की कृतियों का भी उन्होंने परिचयात्मक विवरण देकर शोध के महत्त्व तक अपनी कृति को नहीं पहुँचाया है।

सन् 1923 में प्रथम बार समस्त तुलसी-साहित्य को तुलसी ग्रंथावली के नाम से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन तथा बाबू ब्रजरत्नदास ने पाठ-संपादनपूर्वक प्रकाशिक कराया एवं कवि के जीवन-वृत्त और काव्य-कला पर विस्तृत शोध-पूर्ण विवेचना भी प्रस्तुत की। यद्यपि विद्वानों की दृष्टि में तुलसी-ग्रंथावली का पाठ अधिक शुद्ध नहीं है किन्तु अपने ढंग का यह प्रथम शोध-कार्य था, जिसने पाठकों के लिए तुलसी के समस्त ग्रंथ सुलभ बना दिये एवं आगे के शोधकर्त्ताओं को शोध के लिए सशक्त आधार मिला। ग्रंथावली में तुलसी के जीवन से सम्बन्धित सामग्री पूर्व प्रकाशित तथ्यों की पुनरावृत्ति मात्र थी, किंतु उसके तीसरे खण्ड में विभिन्न विद्वानों के जो फुटकर निबंध संकलित किए थे, उनसे अनेक मौलिक बातें प्रकाश में आईं। इन्हीं निबंधों मे आचार्य शुक्ल का वह निबंध भी सम्मिलित था, जो बाद में कुछ परिवर्तन के साथ स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हुआ। निश्चय ही तुलसी-ग्रंथावली के प्रकाशन से तुलसी-विषयक शोध-कार्य को पाठ-संपादन, व्यक्तित्व-परिचय एवं कृति-विश्लेषण के क्षेत्रों में पर्याप्त प्रौढ़ता प्राप्त हुई।

तुलसी-ग्रंथावली के प्रकाशन के 2 वर्ष उपरांत बेनीमाधवदास रचित "मूल-गोसाई-चरित" का पाठ रामकिशोर शुक्ल के मानस-पाठ के साथ प्रकाशित हुआ, जिसने तुलसीदास के जीवन के सम्बन्ध में जन-श्रुतियों से भी अधिक विचित्र भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर दीं। इन भ्रान्तियों पर प्रमाणपूर्वक बाबू श्यामसुन्दरदास ने 1929 में "गोस्वामी तुलसीदास" शीर्षक से एक लेख लिखकर विचार किया। यह अपने ढंग का प्रथम शोध निबंध था, जिसमें ज्योतिष के आधार पर तुलसी-सम्बन्धी तिथियों पर विमर्श किया गया। यही निबंध डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थवाल के सहयोग से परिवर्द्धित होकर सन् 1931 ई. में "गोस्वामी तुलसीदास" नाम से ग्रंथाकार प्रकाशित हुआ, जिसमें "मूल गोसाई चरित" के आधार पर तुलसी के जीवन-वृत्त को बहुत विस्तार से एवं काव्य के विवेचन को अत्यंत संक्षेप में प्रस्तुत किया गया।

इस ग्रंथ के पश्चात् सन् 1935 ई. में सतगुरुशरण अवस्थी ने "तुलसी के चार दल" ग्रंथ का प्रकाशन कराया, जिसमें विवेचन-सामग्री शोध की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखती, किन्तु उसमें संकलित रामलेलानहछू, बरवैरामायण, पार्वती-मंगल तथा जानकी-मंगल को पाठ-संपादन की दृष्टि से अवश्य उल्लेखनीय माना जा सकता है। इसी प्रकार 1936 ई.

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में प्रकाशित रामनरेश त्रिपाठी द्वारा संपादित मानस का पाठ 'तुलसी ग्रंथावली में संकलित मानस के पाठ की तुलना में कुछ अधिक शुद्ध है, किन्तु विवेचना के खण्ड में जो एक वर्ष पश्चात् "तुलसीदास और उनकी कविता" के नाम से स्वतंत्र पुस्तक के रूप में भी छपा, वे मौलिक अनुसंधान का परिचय नहीं दे सके। मानस के संपादन की परम्परा में रामनरेश त्रिपाठी के संस्करण के साथ ही विजयानन्द त्रिपाठी का भी मानस-पाठ प्रकाशित हुआ था, जो प्रथम ग्रंथ के पाठ की तुलना में अधिक महत्त्व रखता है।

इस प्रकार सन् 1936 ई. तक रामचरित मानस के कई संपादित पाठ प्रकाश में आ चुके थे। तुलसी की अन्य रचनाएँ भी छप चुकी थीं। फलतः तुलसी-विषयक शोध-कार्य में गंभीरता लाने के लिए विद्वानों को उपयुक्त भूमिका मिलने लगी। इसी भूमिका पर सन् 1938 में डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र का उपाधि-हेतु प्रस्तुत गंभीर शोध-ग्रंथ "तुलसी-दर्शन" प्रकाशित हुआ, जिसने तुलसी के आध्यात्मिक चिंतन को व्यवस्थित रूप में आकलित कर हिन्दी जगत के समक्ष प्रस्तुत किया। इस ग्रंथ में विस्तार से तुलसी के भक्ति-मार्ग, जीव-कोटियाँ, तुलसी के राम, विरति-विवेक, हरिभक्ति-पथ, भक्ति के साधन एवं तुलसी-मत की विशेषता आदि पर सप्रमाण विचार किया गया है।

सन् 1938 में ही गीता प्रेस गोरखपुर से चिमनलाल गोस्वामी एवं नंददुलारे वाजपेयी के संपादन में रामचरित मानस का एक अन्य प्रामाणिक पाठ कल्याण के मानसांक के रूप में भूमिका सहित प्रकाशित हुआ, जिसने तुलसी के सम्बन्ध में पर्याप्त मौलिक तथ्य प्रस्तुत किए।

सन् 1942 में डॉ. माताप्रसाद गुप्त के उपाधि हेतु लिखित तुलसीदास शीर्षक शोध-ग्रंथ का प्रकाशन हुआ, जिसमें पूर्वोपलब्ध समस्त तथ्यों तथा आधारभूत सामग्री का वैज्ञानिक ढंग से आकलन किया गया है। इस ग्रंथ में डॉ. गुप्त ने तुलसी के जीवन-वृत्त के कई पक्षों पर प्रथम बार विस्तार से विचार किया है, कृतियों के उपलब्ध पाठों की समीक्षा करके निर्णय दिये हैं तथा उनका काव्यक्रम भी निर्धारित किया है। निश्चय ही यह प्रथम शोध-ग्रंथ है, जिसमें तुलसी की कला एवं आध्यात्मिक विचार-धारा का विस्तार से विवेचन हुआ है और निष्कर्ष निकाले गये हैं, किन्तु यह अध्ययन इतना वस्तुपरक तथा नीरस वैज्ञानिक पद्धति के निकट हो गया है कि तुलसी के मर्म को समझने वाली संवेदना का सर्वत्र अभाव दिखता है। इस अभाव की पूर्ति सन् 1943 में प्रकाशित राजबहादुर लभगौड़ा रचित विश्व साहित्य में 'रामचरित मानस' ग्रंथ से हुई। इस ग्रंथ में तुलसी के जीवन और काव्य की संवेदनात्मक गहराई का सप्रमाण अनुसंधान मिलता है।

सन् 1949 ई. में डॉ. श्रीकृष्ण लाल ने "मानस-दर्शन" ग्रंथ लिखा, जिसमें उन्होंने भक्ति-तत्त्व और कवि-व्यक्तित्व का साधिकार विश्लेषण किया। किन्तु उनके निष्कर्ष अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि उन पर पौराणिक दृष्टि सर्वत्र हावी रही है। डॉ. लाल की कृति के तीन वर्ष पश्चात् सन् 1952 में डॉ. राजपति दीक्षित का शोध-ग्रंथ "तुलसीदास और उनका युग" प्रकाशित हुआ, जिसमें तुलसी के व्यक्तित्व और कृतित्व का पूर्वोपलब्ध समस्त सामग्री की छानबीन करके युग-संदर्भ में गंभीर विश्लेषण किया गया है। तुलसी के युग

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की विभिन्न परिस्थितियों का सापेक्ष आकलन और उनके संदर्भ में तुलसी-साहित्य की मीमांसा इस ग्रंथ की एक महत्त्वपूर्ण देन है। इस ग्रंथ के एक वर्ष पश्चात् जो अन्य महत्त्वपूर्ण शोधकृति प्रकाश में आई, वह है आचार्य परशुराम चतुर्वेदी कृत "मानस की रामकथा"। इस ग्रंथ के प्रथम प्रकरण में तुलसी के जीवन और कृतियों पर विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर विचार किया गया है। अन्य प्रकरणों में तुलसी के शिल्प आदि पर प्रकाश डालकर मानस की कथा के मर्म का उद्घाटन किया गया है। कथा-विवेचन की यह परम्परा कामिल बुल्के से प्रारम्भ हुई थी, जिसकी तीसरी कड़ी है— श्रीशकुमार का "मानस-बालकाण्ड स्रोत नामक ग्रंथ"। इस शोध-ग्रंथ में बालकाण्ड की कथाओं का अत्यंत प्रामाणिक ढंग से विवेचन किया गया है।

छठे दशक से अब तक तुलसी-सम्बन्धी शोध-कार्य ने अनेक दिशाओं में विस्तार पाया है। विभिन्न विश्वविद्यालयों में तुलसी के जीवन और साहित्य के विभिन्न पक्षों को लेकर शोध-ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिनमें कुछ प्रकाशित भी हो चुके हैं। किन्तु अधिकांश ग्रन्थों से पूर्वज्ञात तथ्यों का संकलन मात्र मिलता है। अतः मौलिक शोध की दृष्टि से सभी ग्रंथ महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। जो विशेष उल्लेखनीय माने जा सकते हैं उनमें कतिपय ग्रन्थ ये हैं—तुलसीदास की भाषा (डॉ. देवकीनंदन श्रीवास्तव), रामचरित मानस : काव्यशास्त्रीय अनुशीलन, (डॉ. रामकुमार पाण्डेय), वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन (डॉ. रामप्रकाश अग्रवाल), तुलसी की कारयत्री प्रतिभा का अध्ययन (डॉ. श्रीधरसिंह), तुलसी की काव्य-कला (डॉ. भाग्यवतीसिंह), तुलसी के भक्त्यात्मक गीत (डॉ. वचनदेव कुमार) रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. शिवकुमार शुक्ल), तुलसी-दर्शन मीमांसा (डॉ. उदयभानुसिंह), तुलसी काव्य-मीमांसा (डॉ. उदयभानुसिंह), रामचरित मानस में भक्ति (डॉ. सत्यनारायण शर्मा) तथा 'रामचरित मानस में अलंकार योजना' (डॉ. वचनदेव कुमार)।

ऊपर जिन महत्त्वपूर्ण शोध-ग्रंथों के नाम गिनाये गये हैं, उनमें डॉ. वचनदेव कुमार का शोध-कार्य विशेष उल्लेखनीय है। डॉ. कुमार ने अपने शोध-प्रबंध "तुलसी के भक्त्यात्मक गीत" में प्रथम बार गीतों के माध्यम से तुलसी की भक्ति-साधना का मर्म पाठकों तक पहुँचाया है। उन्होंने विद्वत्ता-पूर्वक ऋग्वेद से निःसृत भक्तिधारा का मध्यकाल तक अखंड प्रवाह खोजकर तुलसी के गीत-काव्य में उसकी समृद्धि प्रामाणिक रूप में आकलित की है। अपने द्वितीय शोध-ग्रंथ में डॉ. कुमार ने, रामचरितमानस को शास्त्रीय दृष्टि से समझने के लिए शिल्प के महत्त्वपूर्ण पक्ष, अलंकार का विस्तार एवं गाम्भीर्य उद्घाटित किया है।

(5) शोध की उपलब्धियाँ

पाश्चात्य एवं प्राच्य विद्वानों ने जिस समय तुलसी सम्बन्धी अनुसंधान प्रारम्भ किया, उस समय तक तुलसी अद्वैतवादियों के ब्रह्म की तरह गंभीर जिज्ञासा का विषय बने हुए थे। भक्तमाल, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता इत्यादि हस्तलिखित पुस्तकों में उनके सम्बन्ध में जो जानकारी अंकित थी वह भी प्रचार नहीं पा सकी थी। केवल वे जन-श्रुतियाँ ही उनको समझने का एकमात्र साधन थीं, जिनमें चमत्कारपूर्ण अनेक कल्पित बातों का

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समावेश हो गया था। पाश्चात्य विद्वानों के प्रयास से तुलसी के जन्म-स्थान, बाल्यावस्था, नाम, माता-पिता, पत्नी, गुरु, जीवन-यापन, साधना और रचनाओं के सम्बन्ध में खोजबीन आरंभ हुई। आरंभ में जन-श्रुतियों का सहारा लिया गया, फिर धीरे-धीरे भारतीय विद्वानों के प्रयास से तटस्थ दृष्टि से वैज्ञानिक पद्धति पर तथ्यों का शुद्धिकरण हुआ। तुलसी की रचनाओं की सूची काल-क्रम में रखकर बनाई गई तथा प्राप्त पांडुलिपियों के आधार पर प्रत्येक कृति का पाठ-संपादन हुआ। इस प्रकार तुलसी के जीवन और कृतियों का शोध कर विद्वानों ने साहित्यिक एवं शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किये तथा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले। आज जबकि तुलसीदास की सर्वोत्तम कृति रामचरितमानस की चतुर्थ शताब्दी पूर्ण हो चुकी है, विद्वान उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में अब तक हुए अनुसंधानों के फलस्वरूप अनेक तथ्यों के विषय में एकमत होते जा रहे हैं, जिससे तुलसी के व्यक्तित्व का ही नहीं, साहित्य का भी अधिकांश स्वरूप स्पष्ट हो रहा है।

शोध के नये क्षेत्र : एक सुझाव

शोधार्थियों को उपाधियों के लिए पंजीकरण हेतु नये-नये विषयों की खोज रहती है। विभिन्न विषयों पर तो मौलिक कार्य के नये विषय मिल ही जाते हैं, किन्तु अब यह भी आवश्यक हो गया है कि जो कार्य सम्पन्न हो चुका है, उसका भी सर्वेक्षण, मूल्यांकन, पुनर्व्याख्यान आदि किया जाए। उदाहरण के लिए, तुलसी-सम्बन्धी जो सर्वेक्षण संक्षिप्त रूप में हमने यहाँ प्रस्तुत किया है, उसे विस्तार देकर एक ऐसा शोध-प्रबन्ध लिखा जाए, जिसमें तुलसी-सम्बन्धी समस्त शोध-कार्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का विस्तार से आकलन हो सके। इसी प्रकार अन्य कवियों और लेखकों या अन्य विषयों पर किये गये अनुसंधान का सर्वेक्षणात्मक मूल्यांकन किया जा सकता है, जो बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

शोध के क्षेत्र में कुछ ऐसी दिशाएँ भी खुल रही हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्राचीन एवं मध्यकालीन हिन्दी साहित्य ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को कई क्षेत्रों में एक परम्परा सौंपी थी। पाश्चात्य विचार-धाराओं और रचनात्मक प्रवृत्तियों के अतिशय आक्रमण से उनके प्रति विद्रोह-भाव विकसित हुए। शोधार्थी का शोध-क्षेत्र इस दृष्टि से भी विस्तृत हुआ है। उसे ऐसे विषय चुनने चाहिएँ, जिन पर कार्य करने से विद्रोह भाव का सही मूल्यांकन हो सके तथा रचनाकार व समाज को सही दिशा मिल सके।

भाषा के क्षेत्र में तो अभी बहुत कार्य होना शेष है। हिन्दी भाषा का शताब्दियों में जो रूप विकसित हुआ है, उसका विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन अभी बहुत कम हुआ है, साथ ही उस पर पाश्चात्य प्रभावों की गवेषणा का कार्य भी नाममात्र को ही किया गया है।

लोक-साहित्य और संस्कृति के अध्ययन की भी अनेक अछूती दिशाएँ शोधकर्मियों की प्रतीक्षा कर रही हैं। आदिवासियों की भाषा का सही आकलन और उसमें उपलब्ध लोक-साहित्य का अनुशीलन भी विद्वान शोधकर्त्ताओं के श्रम की अपेक्षा रखता है।

अतः शोध के लिए अभी अनेक ऐसे क्षेत्र शेष हैं, जिनसे शोधकर्त्ताओं को प्रवेश करके अपने और समाज के भविष्य को उज्ज्वल बनाना चाहिए।

For Private And Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हिन्दी में अनुसंधान-प्रविधि के विवेचन की ओर बहुत कम विद्वानों का ध्यान गया है। जो ग्रन्थ लिखे भी गए हैं, वे मानविकी विषयों की समग्र शोध-दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। उनमें केवल हिन्दी-साहित्य को लक्ष्य बनाकर कुछ तथ्यों पर विचार किया गया है और भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में हुए अनुसन्धान या पंजीकृत विषयों की सूची दे दी गई है। शोध-कर्मियों को सदा एक ऐसे ग्रंथ का अभाव खटकता रहा है, जो संक्षिप्त तथा सुलझे हुए ढंग से मानविकी विषयों की अनुसन्धान-प्रविधि पर प्रकाश डाल सके। प्रस्तुत पुस्तक इसी अभाव की पूर्ति की दिशा में एक प्रयास है। इसमें अनुसन्धान के स्वरूप और प्रविधि पर गम्भीरता से विचार किया गया है।

डॉ. रामगोपाल शर्मा "दिनेश" पूर्व प्राचार्य तथा अधिष्ठाता, हिन्दी विभाग एवं संकाय, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)। **निवास :** 43/84, उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर - 313 001

Serving JinShasan
125881
gyanmandir@kobatirth.org

ल्य : **41.00** रुपये मात्र
ISBN 81-7137-135-3

For Private And Personal Use Only